॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

श्री हितविजय जैन ग्रन्थमाला : : : पुष्प नं. २०

श्रीमलधारगच्छीय श्रीसर्वसुन्दरसूरिपुंगवप्रणितं—

श्री हंसराज-वत्सराज-चरित्रम् ॥

(हिन्दी भाषानुवादसहितम्)

: अनुवादक :

मेवाडकेसरी श्रीनाकोडातीर्थोद्धारक बालब्रह्मचारी पूज्य गुरुदेव श्रीमद्विजय
हिमाचलसूरीश्वर–शिष्य मुमुक्षु भव्यानंदविजय "व्या. साहित्यरत्न"

वीर संवत : २४८१
विक्रम संवत : २०११
ई. संवत : १९५४
हीरस्वर्ग सं. : ३५९

—: प्रकाशक तथा प्राप्तिस्थान :—
शेठ वनेचंद जेठमल कोठारी
मु. पो. घाणेराव, (राजस्थान)
वाया–फालना



प्रथमावृत्ति

प्रत : १०००

मुद्रक :–
पंडित मफतलाल झवेरचंद
नयन प्रीन्टींग प्रेस, ढींकवा वाडी,
रीचीरोड, पुल नीचे : अमदावाद

—: विषयानुक्रमणिका :—

अनुवादकीय–विज्ञप्ति

श्री नमस्कार महामंत्र की महिमा का ज्ञान प्राप्त करने के लिये प्राचीन मलधार गच्छीय श्रीसर्वसुन्दरसूरिजी महाराज द्वारा विरचित श्री हंसराज वत्सराज की कथा पर्याप्त है। लेकिन पद्यमय होने के हेतु सर्व साधारण व्यक्ति को उसका उपयोग करना कठिनसा था। अतः भाषान्तर के साथ प्राचीन मुद्रित ग्रन्थ का संशोधन पूर्वक छपवाने का पूर्णतया प्रयत्न किया गया।

परम पूज्य गुरुदेव मेवाडकेसरी श्री नाकोडातीर्थोद्धारक बालब्रह्मचारी श्रीमद्विजय हिमाचलसूरीश्वरजी महाराज की असीम कृपा का यह सुफल है कि आज प्रस्तुत चरित्र को छपवा करके पाठकों के हाथ में उपस्थित किया जा रहा है।

प्रस्तुत चरित्र छपवाने में कईएक महानुभावोंने द्रव्य सहायता देकर के जो उदारता का परिचय दिया है, तदर्थ उन्हें हार्दिक धन्यवाद !

अनुवादकीय अथवा प्रेस की स्खलना को गुणग्राही दृष्टि से देखते हुए हमें सूचित करें।

अन्त में वाचक महोदय से अनुरोध है कि एकवार अवश्य पढ कर नमस्कार महामंत्र की महिमा को समझते हुए मेरे परिश्रम को सफल बनावें। इति शम्।

ता. २१–१०–५४
डहेला का उपाश्रय, अहमदावाद

—: द्रव्य सहायक वर्ग की शुभ नामावली :—

२५१) श्री डहेला के उपाश्रय की तरफ से		अमदावाद
२५१) शेठ नगीनदास शिवलालभाई	(लक्ष्मीनारायण की पोल)	"
२०१) श्री गणेशमल वक्तावरमल कम्पनी	(सिवाणागढ वाला)	"
१५१) शा. बुधालाल मंछारामभाई	(फतासापोल में नवीपोल)	"
१०१) शेठ सांकलचंद घेलाभाई दलाल	(चंगपोल)	"
१०१) शा. भोगीलाल केशवलाल भाई	"	"
१०१) शा. पोपटलाल रतनचंद करमचंद	(धनासुतारपोल में चोखावटीपोल)	"
१०१) शा. रमणलाल पानाचंदभाई	(फतासापोल में ब्रह्मपुरी)	"
१०१) एक श्राविका तरफसे	(ह. शेठ शान्तिकुमार जगाभाई)	"
१०१) शा. जवेरचंद उमेदमलजी राजावत	(घाणेराव वाला)	गोलवड
१०१) शा. चुनीलाल पुनमचंदजी राजावत	(घाणेराव वाला)	सिकला
१०१) शा. समरथमल केसरीमलजी	(शेलावस वाला)	अमदावाद
५१) शा. फतेसिंहजी राजमलजी महेता		जेसलमेर
५१) शा. नेमचंद डोसाभाई दोशी	(छीपामावजी की पोल)	अमदावाद
५१) शा. भूरमल वालाजी	(हरजी वाला)	"

॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

विनयश्रिय:

॥ तपागच्छनायक–जगद्गुरु–श्रीमद्विजयहीरसूरीश्वरपादपद्मेभ्यो नमः ॥

श्रीमलधारगच्छीय–श्रीसर्वसुन्दरसूरिपुङ्गवप्रणीतं–

आस्ति पुस्तक मिदम् विनयश्रिय:

श्री हंसराज-वत्सराज-चरित्रम् ॥

(हिन्दी भाषानुवादसहितम्)

स्मृत्वा श्रीभारतीं देवी नत्वा च शिरसा गुरून् । चमत्कारकरीं कुर्वे कथां कर्णामृतोपमाम् ॥१॥

अर्थ—श्री सरस्वती देवीको स्मरण करके. मस्तकसे गुरुको सविधिप्रणाम करने के बाद मै (सर्व सुन्दरसूरि नामक साधु–) चमत्कारी और अमृत के समान प्रियकथा की रचना करता हूं ॥१॥

कल्पद्रुमसमो वृक्षश्चिन्तामणिसमो मणिः । शत्रुञ्जयसमं तीर्थं विद्यते नैव चापरम् ॥२॥

अर्थ—मनोकामना को देनेवाला कल्पवृक्ष के समान दूसरा वृक्ष, चिन्तामणिके तुल्य दूसरा मणि, और शत्रुञ्जय तीर्थ के समान दूसरा तीर्थ नहीं है ॥२॥

यथा कामदुघातुल्या धेनुर्मेरुसमो गिरिः। मन्त्रो नास्ति तथा पञ्चपरमेष्ठिसमोऽपरः ॥३॥

अर्थ—जैसे कामधेनु के समान दूसरी धेनु, और मेरुपर्वत के समान दूसरा पर्वत नहीं है वैसे ही पञ्चपरमेष्ठि नमस्कार महामंत्र के समान कोई मंत्र नहीं है ॥३॥

अहो भव्यजनाः! पञ्चपरमेष्ठिनमस्कृतेः। माहात्म्यमेकमाश्चर्यकारकं श्रृणुतादरात् ॥४॥

अर्थ—हे भव्यजीवों! पञ्चपरमेष्ठि नमस्कार महामंत्र का आश्चर्यकारक माहात्म्य आदर पूर्वक एवं सावधान होकर के सुनिये ॥४॥

श्रीवच्छदेशो दिशि दक्षिणस्यां, विराजते भूवलये प्रसिद्धम्।
अस्त्युत्तमं तत्र धरावतंसो-पमं पुरं शङ्खपुराभिधानम् ॥५॥

अर्थ—दक्षिण दिशामें रहा हुआ पृथ्वी का भूषणरूप श्रीवच्छदेशमें अत्यंत प्रसिद्ध, मुकुटसमान और उच्चतम शंखपुर नाम का नगर है ॥५॥

जन्मापूर्वं त्रयश्चासीद् यज्जनानां सदैव हि। परचक्रागमाशङ्कादारिद्र्यभपरार्थना ॥६॥

अर्थ—उस नगर निवासियों को किसी शत्रु द्वारा न तो भय है न दरिद्रता है और न याचना ही है। अर्थात् संसार में दूसरे से शंका रहना, दरिद्रता और याचना, ये तीनों ही अशान्ति का मूलभूत कारण है। परन्तु इस नगर में तीनों में से एकभी नहीं है। अर्थात् सब तरह से आनन्द है ॥६॥

हंसे सरोगता चन्द्रे दृश्यते सकलङ्कता। दण्डश्छत्रे श्रुतौ चौर्य्यं न प्रजासु कदाचन ॥७॥

अर्थ—हंस में सरोगता, चन्द्रमामें कलङ्कपना, छातामें दंड और शास्त्रमें चोरीपना है. किन्तु उस नगर निवासीयों में न तो किसी प्रकार का रोग है न कोई कलंक है न दंड है. और न चोरीपना ही है अर्थात् सब सुखी है ॥७॥

अहो द्विजिह्वता नद्यां रोधः कुटिलता भ्रुवोः। तरौ दीपे मरुज्जातः कम्पो नान्यत्र दृश्यते ॥८॥

अर्थ—सर्प में दो जीव है किन्तु वहां की जनता में चुगलखोरी नही है नदी में रुकावट है किन्तु जनता में नहीं, अर्थात् राजा प्रजा में कोई वातका भेदभाव नही है-प्रजाके लिये खुला दरबार है। एवं भौंहमें ही खोटापना है, न कि वहां की जनता में। अत एव वृक्ष और दीपमें हवा से कम्पन होता है किन्तु नगर निवासियों का नही। अर्थात् वहां के राजा और प्रजा में किसी प्रकार से कोई दोष न होने के हेतु स्वर्ग जैसा वह नगर सुशोभित था ॥ ८ ॥

राजारिमर्दनो नाम समस्तगुणभूषितः। नगरीं पालयामास तां वज्रीवामरावतीम् ॥ ९ ॥

अर्थ—शंखपुर नामक नगर में विराजमान सकलगुणों से विभूषित अरिमर्दननाम का राजा "स्वर्गपुरी को इन्द्र की तरह" उसनगर की रक्षा करता था ॥ ९ ॥

रणे वितरणे शूरः सोमो नम्रजनेषु च। वक्रश्चातितरांचक्रे श्रुतबोधे बुधोपमः ॥ १० ॥

अर्थ—अरिमर्दन राजा युद्ध करने तथा दान देनें में पूर्ण शूर-वीर था। एवं विनम्र के सामने चन्द्रमा के समान ठंढा, कुटिलजन के सामने 'अतिकुटिल' और शास्त्रज्ञानमें पण्डित के समान जानकार था ॥ १० ॥

न्यायधर्मे सुराचार्य्यः सत्काव्यकरणे कविः। विक्रियायां सदा मन्दो राज्यं भुङ्क्ते निजं नृपः ॥११॥

अर्थ—राजा नीति में बृहस्पति के समान, अच्छे काव्य करने में कवि के तुल्य और दुष्क्रिया में मंद था। अर्थात् अनेक गुणों से शोभित अरिमर्दन राजा सुक्रिया में लयलीन रहता हुआ अपने राज्य का पालन करता था ॥ ११ ॥

आद्या भानुमती नाम्ना जाता तस्यावनीपतेः। कमला केशवस्येव प्राणप्रियतमा प्रिया ॥१२॥

अर्थ—विष्णु को लक्ष्मी की तरह उस राजा को प्राण से भी बढकर प्रिय प्रथम भानुमती नामकी रानी हुई ॥१२॥

राज्ञस्तस्यापरा पत्नी धारिणी नाम विश्रुता। आनन्ददायिनी चासीद्रूपसौन्दर्य्यमन्दिरम् ॥१३॥

अर्थ—फिर उस राजा को प्रिय रूप तथा सौन्दर्य का घर पण्डिता और आनन्द को देनेवाली धारिणी नाम की दूसरी रानी हुई ॥ १३ ॥

ताभ्यां वैषयिकं सौख्यं विविधं भुञ्जतः सतः। कियानपि ययौ कालो मदनस्येव भूपतेः ॥ १४ ॥

अर्थ—भानुमती तथा धारिणी नाम की रानी के साथ विपय सम्बन्धि सुखका उपभोग करता हुआ कामदेव के समान राजा का बहुत कुछ समय व्यतीत हुआ ॥१४ ॥

इतश्चास्मिन् महीकान्ते साम्राज्यमुपभुञ्जति। उद्यानपालकेनैत्य विज्ञप्तं भूपतेरिति ॥ १५ ॥

अर्थ—सुखपूर्वक राजा अपने राज्य का उपभोग कर रहा था। इतने में इधर से एक माली आकर के राजा से प्रार्थना पूर्वक कहने लगा ॥ १५ ॥

राजंस्तव वरोद्याने वाचंयमशिरोमणिः। समेतोऽस्ति वरः सूरिः साधुवृन्दनिषेवितः ॥ १६ ॥

अर्थ—हे राजन् ? आपके बगीचे मे संयमी में मुकुटालंकार अनेक साधुके साथ श्रेष्ठसूरिजी महाराज पधारे हैं॥१६॥

सर्वोऽपि पुरवास्तव्यो वन्दनाय जनो व्रजेत्। राजन्नवसरज्ञोऽसि गुरुपादान्नमस्कुरु ॥ १७ ॥

अर्थ—हे राजन् ! गुरु को वंदना करने के लिये गांव के प्रत्येक नरनारी वहा जा रहे है। अतः आप भी वहां पधार कर गुरुदेव को नमस्कार करे, क्योंकि—आप अवसर को जानने वाले हें ॥ १७ ॥

वचस्तूद्यानपालस्य श्रुत्वोत्कण्ठितमानसः। कृत्वा विविधसामग्रीं राज्ञीद्वयनिषेवितः ॥ १८ ॥

अर्थ—चतुर राजा बागवान का वचन सुनकर अनेक सामग्री के साथ एवं अपनी दोनों स्त्रियो को साथ लेकर गुरुदर्शनार्थ उत्सुक हुआ ॥ १८ ॥

तुङ्गं तुरङ्गमारुह्यास्तोकलोकवृतः क्षणात्। भक्तितुङ्गो गुरोः पार्श्वं गच्छतिस्म नृपो मुदा ॥ १९ ॥

अर्थ—राजा जल्दी से जल्दी अनेक लोगों को भी साथ लेकर, वडे घोडे पर चढकरके भक्ति से ओतप्रोत हृदय हो गुरु के पास जा पहुंचा ॥ १९ ॥

पश्चाद्गप्रणिपातेन राज्ञा सूरिर्नतो मुदा। त्वरितं भूपतेर्दत्ता गुरुणा वरदेशना ॥ २० ॥

अर्थ—राजाने सूरिदेव को सादर दण्डवत् प्रणाम किया। फिर गुरुदेवने भी योग्य समझ कर उत्तम प्रवचन देना शुरु किया। अर्थात् आशीर्वाद के रूप मे सच्चा उपदेश प्रारम्भ किया ॥ २० ॥

त्यक्त्वा प्रमादं कुरुत प्रयत्नाद् भो भो जनाः ! पुण्यमतीव रम्यम् ।
यस्माद्विनास्यात्तदिहापरत्र पाथेयमन्यद् भविनां भवे न ॥ २१ ॥

अर्थ—हे महानुभावों ! प्रमाद को सर्वथा छोड यत्न से रमणीय-पुण्य का उपार्जन कीजिये । चूंकि धर्म के विना इसलोक में एवं परलोक में यह आत्मा महादुःखी बनजाती है । दूर जानेवाले को मार्ग का कलेवा (खाद्य-पदार्थ) साथ लेना जैसे जरूरी है वैसे ही परलोक गमन के साथी धर्मरूपी जलपान को लेना परम आवश्यक है ॥ २१ ॥

आसाद्य मानुष्यमथार्यदेश-संवासमच्छं कुलमुत्तमं च ।
रात्रिन्दिवं पुण्यमहो भजस्व तस्योदयात्सर्वमनीषिताप्तिः ॥ २२ ॥

अर्थ—हे भव्यात्मन् ! आप बडे भाग्य से मनुष्य सम्बन्धि शरीर को पाये है एवं-आर्यदेश तथा उत्तम कुल में जन्म लिया है । अत एव हमेश धर्म का प्रतिदिन सञ्चय करते रहें जिस से अपने अपने मनोरथ पूरे हो जायेगें ॥ २२ ॥

चलाविभूतिर्ननु जीवितं चलं विनश्वरं यौवनमप्यकालतः ।
यमप्रियं कायमतीव चेतसा विमृश्य नित्यं कुरु धर्ममन्वहम् ॥ २३ ॥

अर्थ—हे भव्यों ! धन दौलत राजपाट इत्यादि सब चञ्चल है क्योंकि लक्ष्मी–आज यहां तो कल वहां ऐसी चंचळ गतिवाली है. जीवनभी चलायमान है । ऐसा नियम कोई नहीं है कि आज तो मृत्यु होगी ही नहीं । एवं जवानी भी

जो आज है वो कल कहां ? जिस शरीर को आप लोग प्रिय समझ कर ममत्व रखते हो यह अज्ञान है. क्योंकि शरीर के प्रत्येक अवयव में मलमूत्र भरा हुआ है शरीर सर्वथा-निन्दनीय है। अत एव भलीभांति विचार करते हुए एक धर्मका संग्रह करें ॥ २३ ॥

पापं परस्त्रीगमनोद्भवं महच्चित्ते विदित्वा वचनातिगं च भोः ।।
अन्याङ्गनोत्सङ्ग सुख महादरादाजन्मकालात्त्यज मा विलम्बय ॥ २४ ॥

अर्थ—हे सुखेच्छो ! परस्त्रियों के साथ हास्य क्रीडा भोग आदि से महापाप का उदय होता है ऐसा समझ कर परस्त्रीगमन जन्य सुख को छोड परस्त्री को अपनी माता तथा बहन समझो । और हमेशा के लिये बूरे आचरण से अविलम्ब बाहर निकल जाओ इसमें देरी मत करो और न विशेष विचार करने का अवकाश लो ॥ २४ ॥

गुरोः शिक्षामिति श्रुत्वाऽन्यस्त्रीविरतिलक्षणम् । व्रतमादाय पाथेयसन्निभं चचले नृपः ॥ २५ ॥

अर्थ—उक्त प्रकार से गुरुदेव की मनोहर देशना को श्रवण कर राजाने परस्त्रीगमन का निषेध व्रत स्वीकार कर दुराचरणों को सर्वथा छोड दिया ॥ २५ ॥

पत्नीद्वयान्वितेनाथ नृपेण स्वगृहं प्रति । गच्छता नगरोद्याने तरुश्रेणिरदर्शि च ॥ २६ ॥

अर्थ—उसके वाद दोनों रानी को साथ लेकर अपने राजमहलकी तरफ जाते हुए राजाने नगर के समीप बगीचा मे वृक्षों का समूह सुन्दर देखा । तत्पश्चात् परिवार के साथ राजा घूमने के लिये चल पडा ।

तत्रक्षणं विशश्राम भूपोऽशोकतरोस्तले। राज्ञी भानुमती रन्तुं बभ्राम सकलं वनम् ॥ २७ ॥

अर्थ—वहां अशोक वृक्ष के नीचे कुछ समय राजा विश्राम करने लगा। इतने में राजा की पहली रानी भानुमती वन की क्रीडा करने के लिये इधर उधर घूमने लगी ॥ २७ ॥

भ्रमन्त्या च तयालोकि वानर्य्येका वने पयः। पाययन्ती च रक्षन्ती क्रीडयन्ती निजान् शिशून् ॥२८॥

अर्थ—वन में घूमती हुई भानुमती को देखने में आया कि एक जगह एक-वानरी अपने बच्चे को स्तन्यपान कराती हुई उसके साथ खेलकूद कर रही है ॥ २८ ॥

तथाविधां कपिं दृष्ट्वाऽचिन्ति चित्ते तया तदा। धन्येयं या सुतैः सार्धं शेतेऽश्नाति पिबत्यहो! ॥२९॥

अर्थ—अपने बच्चे के साथ लाड प्यार करती हुई वानरी को देख कर भानुमती मन ही मन सोचती हुई बोल उठी. अहो! धन्य है इस वानरी को, जो कि अपने बच्चे के साथ सोती है और साथ ही साथ खाती पीती है ॥ २९ ॥

हीना तथाविधैर्भाग्यैः सुतलालनजं सुखम्। अद्यापि नैव जानामि निःपुण्याहं करोमि किम् ॥३०॥

अर्थ—वैसे भाग्य से मैं हीन हूं. सन्तान सम्बन्धि सुख कैसा होता है? वह मैं नहीं जानती हूं। अहा! मैं कितनी पापिनी हूं? क्या करुं? ॥ ३० ॥

कस्याहं शरणं यामि किं कुर्वे पुत्रवर्जिता। पुत्रप्राप्तिसमं विश्वे नान्यत् स्त्रीणां परं सुखम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—मैं सन्तान से सर्वथा रहित हूं, कहां और किसके शरण जाउं ? पुत्र सुख के समान दूसरा सुख स्त्रियों के लिये और कहा ? मै इससे रहित हूं । पुनः क्या करुं ? ॥ ३१ ॥

इत्येवं चिन्तयन्तीसा समेता भर्तुरन्तिकम् । उपविष्ठा च भूपीठे कपोलन्यस्त हस्तका ॥३२॥

अर्थ—इस प्रकार से भानुमती अपने स्वामी के पास पृथिवी की पीठ पर बैठी हुई, एवं अपने गाल के उपर हाथ रख कर चिन्ता मुद्रामे मस्त बनी हुई सोच रही है ॥ ३२ ॥

तत्र क्षणे नृपेणाथ भानुमतीं निजप्रियाम् । विलक्षवदनां वीक्ष्य प्रोचे तामिति सत्वरम् ॥३३॥

अर्थ—उस समय मे चिन्ता मुद्रामें पडी हुई अपनी रानी भानुमती को देखकर राजा जल्दी से जल्दी कहने लगा ॥ ३३ ॥

वासरे चन्द्ररेखेव लतेवाम्बुदवर्जिता । दृश्यसे दीनवक्त्रा त्वं नारीव पतिवर्जिता ॥३४॥

अर्थ—हे प्रिये ! दिन के चन्द्रमा की तरह उदास, जल के विना मुर्झाई हुई लता की भांति, और पति रहित पत्नी की तरह तुम क्यो दिखाई दे रही हो ? ॥ ३४ ॥

आधिस्त्वां बाधते व्याधिरुत चिन्ता परा हृदि । सपत्नी संभवो दोषः कोऽपि दुःखाकरोति ते ॥३५॥

अर्थ—तुमको ऐसी कौन मनोव्यथा है ? या कौन चिन्ता है ? अथवा क्या सौतजन्य दुःख तुझे सता रहा है ? ॥३५॥

अथ पितृकुलोद्भूताऽश्रावि काप्यरतिप्रदा। देवि ! त्वया कुतोऽकस्मादमाङ्गल्यकरी कथा ॥३६॥

अर्थ—हे देवि ! पितृकुल में पैदा हुई. वैराग्य और अशुभ को देनेवाली कथा अचानक कहां से सुनाई ? ॥३६॥

मत्तोऽपि चेन्न गोप्यन्ते तर्हि सद्यः प्रकाशय। इत्युक्ते तु तया रेभे वक्तुं गद्गदया गिरा ॥३७॥

अर्थ—हे प्रिये ! यदि तुम मेरे से कोई बात छिपाना नहीं चाहती हो तो अभी सच बात सुना दो। रजा का वचन सुनकर रानी गद्गद् स्वरसे हृदय की व्यथा कहने लगी ॥ ३७ ॥

जीवेश ! ते प्रसादेन देहे नीरोगतास्ति मे। सपत्नी संभवं दुःख माधिश्चापि न विद्यते ॥३८॥

अर्थ—हे प्राणेश ! आपकी कृपा से मेरे शरीर में किसी भी प्रकार का रोग नहीं है और न मुझे सौत का दुःख है और न मनोव्यथा ही है ॥ ३८ ॥

पति प्रियत्वं सौभाग्य मारोग्य प्रभुतादि मे। यद्यप्यस्ति तथाप्येका पुत्रचिन्ता दुनोति माम् ॥३९॥

अर्थ—हे नाथ ! यदि मैं आपकी प्राणप्यारी हूं तो मुझे सौभाग्य-आरोग्य और प्रभुता आदि सब कुछ है. फिर भी मुझे एक पुत्र चिन्ता-बहुत सता रही है ॥ ३९ ॥

यौवनं परमाभीष्टं याति नाथ ! दिने दिने। स्पर्द्धया च गलत्यायुः शीघ्र मायाति वार्द्धकम् ॥४०॥

अर्थ—हे नाथ! प्रतिदिन परमप्रिय जवानी जा रही है जोकि फिर लौटकर नहीं आसक्ती। इर्ष्यासे अवस्था घटती जा रही है और बुढापा भी जल्दी आ रहा है ॥४०॥

अतो रात्रिन्दिवं पुत्रचिन्ता माम्बाधतेऽधिकम्। पतेद्गृहं विना स्तंभं तथा पुत्रं विनान्वयः ॥४१॥

अर्थ—इसलिये मुझे रातदिन पुत्र की चिन्ता लगी रहती है. क्योकि—बिना खंभा के घरका रहना जैसे कठिन है वैसे ही विना पुत्र के वंश रहना मुश्किल है ॥४१॥

कुवक्रमागत राज्यं पालयिष्यति कः प्रभो!। वार्द्धके पुनरायातेऽन्वयाधारं विनात्मजम् ॥४२॥

अर्थ—कुलका आधारभूत पुत्र के विना वृद्धावस्था आने पर परम्परा से सप्राप्त राज्यकी कौन रक्षा करेगा ? ॥ ४२ ॥

ध्वान्तपक्षेन्दुरेखाभं मदाननमतः प्रिय!। एतदेव हि जानीहि नान्यद्दुःखस्य कारणम् ॥४३॥

अर्थ—हे प्रिये। अतएव मेरा मुख कृष्णपक्ष के चन्द्रमा के समान उदासीन जो दिखाइ देता है. इसमें केवल पुत्राभाव के विना दूसरा कोई कारण नहीं हैं ॥४३॥

आरङ्कभूपं सर्वेषां सदाचिन्ता करो भवान्। स्वकीयां न वरं चिन्तां कुर्वन्नाथ न दृश्यसे ॥४४॥

अर्थ—हे स्वामिन्! आप रक से राजा तक सबकी चिन्ता करते है किन्तु अपनी चिन्ता करते हुए कभी भी दिखाई नहीं देते हैं। यह अच्छा नहीं ॥४४॥

आयत्युदर्के चतुरः कविभिस्तु निगद्यसे। परं शून्यवदद्याप्यायतिं कुर्वन्न दृश्यसे ॥ ४५ ॥

अर्थ—कवियो से कहे जाते है कि आप आगे आगे के फल में बडे चतुर है किन्तु खेद है कि आप भविष्य का विचार करते हुए दिखाई नहीं देते है ॥४५॥

तपः कुरु तथा देव मुपासय तथा जप। मन्त्र माराधय स्वामिन् ! यथास्यात्तनयस्तव ॥ ४६॥

अर्थ—हे स्वामिन् ! तपस्या कीजिये देव की उपासना कीजिये, मन्त्रका जाप कीजिये, और आराधना कीजिये जिससे कि पुत्र अवश्य मेव होगा ॥४६॥

तयेत्युक्ते नृपो जल्पन्। प्रिये ! मुधैव खिद्यसे। कोऽपि त्रिभुवने दृष्टः प्राक्तनात्कर्मणो बली ॥४७॥

अर्थ—उक्त प्रकार से भानुमती के कहने पर राजाने उत्तर में कहा कि हे प्रिये! वृथा खेद मत करो चूंकि तीनों भुवन में पूर्वोपार्जित कर्मों से बलवान कोई नहीं है. अर्थात् सर्वोपरि भाग्य ही प्रबल है ॥४७॥

वामान्यापि भवेत्प्रायश्चातुर्य्यगुणभूषिता। ज्ञानतत्त्वा विशेषेण भवत्यसि विमुच्यसे ॥४८॥

अर्थ—प्रायःकर स्त्रीयां चतुरता से भरी हुई होती है, जिस में भी तूं तो विशेष समझनेवाली हो. फिर तूं ऐसा क्यों बोल रही हो? ॥४८॥

येन जिनोदितो धर्मः श्रुतः स्यादेकदाऽपिहि। तेन तदेव वक्तव्यं यन्नस्यादागमाद्बहिः ॥४९॥

अर्थ—जिसने एक दिन भी जिनवाणी का पान किया हो उस को वही बोलना चाहिये कि आगम से विरुध न हो ॥ ४९ ॥

पुत्रप्राप्तिर्यदा पुण्यैर्न स्यात्केषान्तदा कुतः। औषधैर्जापहोमैर्वा देवताराधनेन च ॥५०॥

अर्थ—यदि पुण्य से पुत्र नहीं हुआ तो क्या अद्भूत दवा से ? जाप से ? होम से ? और देवता की आराधना से क्या हो सकेगा ? कदापि नहीं ॥ ५० ॥

पुण्येन हि प्रिये देवि ! सौभाग्यं प्रचुरं सुखम्। प्राप्यन्त एव पुत्राश्च कोऽप्युपायोऽपरो न हि ॥५१॥

अर्थ—हे प्रिये ! पुण्य से ही सौभाग्य अत्यन्त सुख और पुत्र आदि मिल सकते है। इन के लिये दूसरा कोई उपाय नहीं ॥ ५१ ॥

विधाय कुसुम स्तोम सामग्रीं च मुदार्चय। जिनेन्द्रप्रतिमां प्रातः प्रयता प्रत्यहं प्रिये ! ॥५२॥

अर्थ—हे प्रिये ! पुष्प अक्षत नैवेद्य आदि पूजा की सामग्री को इकट्ठी कर के प्रातः काल हमेशां जिनेश्वर देव की पूजा किया करो ॥५२॥

दानाज्जन्तुगणान् कष्टाद्विविधान्नित्य मुद्धर। दया दानं जिनेन्द्रेण न निषिद्धं मनागपि ॥५३॥

अर्थ—दुनिया में अनेक अनाथ–दीन प्राणी है जो कि भूख से मर रहे है. उन्हें–दान देकर कष्ट से उद्धार करो। क्योंकि हे प्रिये ! किसी जगह पर जिनेश्वर भगवानने दया–दान का निषेध नहीं किया है। यह निश्चय समझो ॥५३॥

मदादेशाच्च दयितेऽभयदान पुरस्सरम्। अमारि घोषणां नित्यं कारय त्वं निजे पुरे ॥५४॥

अर्थ—हे दयिते ! मेरी आज्ञासे अपने राज्य में सर्वदा के लिये अभयदान पूर्वक अहिंसाका ढोल बजवा दीजिये ॥५४॥

कायोत्सर्गमनिर्विण्णोभयसंध्यं जिनाग्रतः। कुर्वन्तराय नाशाय लयलीना दयापरा ॥५५॥

अर्थ—हे प्रिये! जिनेश्वर भगवान के सामने प्रातः और संध्या में अन्तराय कर्म के क्षय निमित धून में लीन होकर दया पूर्वक शुभ आशय से काउस्सग करो। जिस से कि तुम्हारी अभिलाषा पूरी हो जायगी ॥५५॥

कृत्वाशयं दृढं पञ्च परमेष्ठि नमस्कृतेः। विधेहि दुरितौघस्य हरणं स्मरणं कुरु ॥५६॥

अर्थ—पञ्च परमेष्ठि नमस्कार के उद्देश्य को दृढ करके पाप समूह का नाश करनेवाला पञ्च परमेष्ठि नमस्कार मंत्र का पूर्ण स्मरण कीजिये ॥५६॥

करिष्येऽहं राज्यचिन्तां विमुच्य पुत्रकाम्यया। श्रद्धया कियतो घस्रान् सप्त क्षेत्र्यां धन व्ययम् ॥५७॥

अर्थ—मैं भी राज्य चिन्ता को सर्वथा छोड पुत्र कामना से कितने ही दिन साधु साध्वी श्रावक श्राविका जिनमंदिर, जिनप्रतिमा और जिनागम के निमित श्रद्धा पूर्वक लक्ष्मी का सदुपयोग करुंगा ॥५७॥

परस्त्रीं जननीतुल्यां चिन्तयन् करुणापरः। अवनौ शयनं कुर्वन् श्रीवामेय जिनाग्रतः ॥५८॥

आचाम्लादितपः कृत्वा धूपोद्ग्राहण पूर्वकम्। चिन्तामणि महामन्त्रं साधयिष्ये तु कामदम् ॥५९॥

अर्थ—दया पूर्वक परस्त्री को माता समझुंगा, और भूमि पर ही शयन करुंगा। श्री पार्श्वनाथ जिनेश्वर देव के सामने धूप कर के, आयम्बिल की तपस्या पूर्वक वांछित फल को देनेवाला श्री चिन्तामणि महामन्त्र की साधना करुंगा ॥५८-९॥

दुर्वार सप्त व्यसन प्रदेशं निवारयिष्यामि पुरे मदीये।
पूजां करिष्ये प्रयत स्त्रिसन्ध्यं जिनेश्वराणामहमर्भकार्थी ॥६०॥

अर्थ—हे प्रिये! और जुआ, मांस, मदिरा, परस्त्री, चौरी, शिकार, एवं वेश्या गमन इन सात व्यसनों को सर्वदा के लिये छोडकर पुत्र के निमित मैं अपने नगर में रहे हुए जिनेश्वर देव की त्रिकाल पूजा करुंगा ॥६०॥

वक्तुं न शक्नोम्यधिकं वृथैव परं यतिष्ये सुकृते तथाऽहम् ।
त्वदीप्सितं भावि यथाचिरेण दुरासदं पुण्यवतां न किञ्चित् ॥६१॥

अर्थ—मैं विशेष निरथक नहीं बोल कर केवल पुण्य के लिये प्रयत्न करुंगा और तेरीअभिलाषा भी शीघ्र सफल हो जायगी क्योंकि पुण्यशालियों के लिये दुष्प्राप्य कुछ नहीं है ॥६१॥

किञ्चिद् रहस्यं त्वपरं तवाग्रे निवेदयेऽहं हृदये दधासि ।
मन्त्रोऽस्ति चिंतामणि नामधेयो मदन्तिके चिन्तित सिद्धिदायी ॥६२॥

अर्थ—हे प्रिये! मै तेरे सामने एक रहस्य की बात कह रहा हूं उसे हृदय में धारण करना। वह यह है कि मेरे पास अभिलषित पदार्थ को देनेवाला चिन्तामणि नाम का महामन्त्र है ॥६२॥

जपतामेवमस्माकं तन्मत्रं सुगुरूदितम्। अस्माकीनोऽल्पकालेन फलिष्यति मनोरथः ॥६३॥

अर्थ—गुरु से दिया हुआ मन्त्र का जाप करते हुए मेरे जल्दी ही मनोरथ सिद्ध हो जायेंगे। एसी मुझे पूर्ण आशा है ॥ ६३ ॥

नान्यथैतद्वचश्चिन्त्य मित्युक्त्वा विरते नृपे। भानुमती निजं कान्तम्प्रोचे हर्षेण पूरिता ॥६४॥

अर्थ—अतएव कोई बात की तुम चिन्ता मत करो, राजा के इस प्रकार वचन सुन कर भानुमतीने हर्ष से भरपूर होकर पथिदेव को कहना शुरु किया ॥ ६४ ॥

कदापि तद्दिनं भावि नाथ! जीवितवल्लभ!। तद्वचः कर्णसुखदं यत्र सत्प्रभविष्यति ॥६५॥

अर्थ—हे नाथ! प्राणेश! वो दिन कब होगा कि जिस दिन आप के वचन कानों को सच्चे सुखदायी बनेगें?॥६५॥

विदधान कथामित्थं नृपतिस्तु कलत्रयुक्। आजगाम पुरीमध्ये मुदा सार्धं शुभे क्षणे ॥६६॥

अर्थ—उक्त प्रकार से परस्पर वार्तालाप करता हुआ रानी सहित राजा हर्ष युक्त होकर के शुभ समय देख कर अपने नगर में आ पहुंचा ॥६६॥

सुबुद्धि नामधेयस्य दत्त्वा राज्यं तु मन्त्रिणः। वितन्वानो मनः शुद्ध्या सुकृतं जिन भाषितम् ॥६७॥

अर्थ—नगर में जाते ही सुबुद्धिनामक प्रधान मन्त्री को अपना राज्यभार देकर के मनः शुद्धि से जिनेश्वर भगवान से भाषित पुण्य को अपनी शक्ति के अनुसार विशेष बढाने लगा ॥६७॥

यथा शक्ति मुदा भक्त्याऽश्वसेन नृपनन्दनम्। ध्यायं ध्यायं त्रिधा शुद्ध्या वामेयं सर्वकामदम् ॥६८॥

अर्थ—अश्वसेन के लाडला वामानन्दन श्री पार्श्वनाथ जिनेश्वर देव को वांछितफल दात्ता समझकर त्रिकरण शुद्धि एवं भक्ति से हर्ष सहित यथा शक्ति ध्यान करने लगा ॥६८॥

अनिशं तं महामन्त्र माराधयितुं मुद्यतः। सत्यां सकल सामग्र्यां बभूवावनिवल्लभः ॥६९॥

अर्थ—इत्यादि अरिमर्दन राजा सकल सामग्री को संग्रह कर के प्रतिपल महामन्त्र की आराधना में उद्यत होकर जिनेश्वर देव को स्मरण करने लगा ॥६८॥

कुर्वतो धर्मकर्माणि मन्त्रोपास्तिं च यत्नतः । अतीतास्तस्य नृपते रेकविंशति वासराः ॥७०॥

अर्थ—इस प्रकार धर्मकार्य तथा मंत्र की उपासना करते हुए राजा को २१ दिन हो गये ॥७०॥

तत्संख्यावासरप्रान्ते देव्या तन्मन्त्र तुष्टया । पद्मावत्या समागत्य पृष्टं किं नृप ! खिद्यसे ॥७१॥

अर्थ—सब जाप की अवधी पूर्ण होते ही, देवी पद्मावती प्रसन्न होकर सामने उपस्थित हुई और कहती है कि हे राजन् ! तू चिन्ता क्यों करता है ? ॥७१॥

तव निष्कण्टकं राज्यं गजाश्वरथराजितम् । प्रचुरा भोग सामग्री विद्यतेऽनेकधा धनम् ॥७२॥

अर्थ—क्योंकि तेरे पास हाथी घोड़ा रथ सेना आदि से सुशोभित निष्कण्टक विशाल राज्य है और अनेक प्रकार का धन तथा भोगोपभोग सुख साधन है ॥७२॥

अन्यान्यपि हि वस्तूनि चित्रदेशोद्भवानि तु । विद्यते भवतः कोशे यन्न्यूनं ते तदुच्यताम् ॥७३॥

अर्थ—और भी चित्रदेश में उत्पन्न हुई अद्भुत सब वस्तु तेरे भंडार में है ही. फिर भी जो कुच्छ नवीन बात हो वह तुम कह सुनाओ ॥७३॥

नृपः प्रोचे च हे मातः ! तवानुग्रह लेशतः । विनागृहेऽस्ति मे सर्वं कुलोद्योतकमात्मजम् ॥७४॥

अर्थ—राजाने कहा कि हे मां ! आपकी कृपासे सब कुच्छ साधन होने पर भी वंश का उजाला करने वाला पुत्र के विना मुझे घर शून्य दीखता है ॥७८॥

तन्निमित महं कुर्व्वंऽनुष्ठानं तपस्त्वयि । तुष्टायां मम दुःप्रापं किञ्चिदम्ब ! नहि क्षितौ ॥७५॥

अर्थ—अतएव मैं तपस्या और अनुष्ठान कर रहा हूं. हे अम्ब ! आपकी अनुकम्पा से इस भूतल में कोई वस्तु दुर्लभ नहीं है। क्यों कि जिस के उपर आप प्रसन्न हो जाते है तो वह सब तरह से सुखी बन जाता है ॥७५॥

इत्युक्ते भूभुजा देव्याहाद्य यावत्तवाधिकम् । प्राक्तनं भूप ! भोक्तव्य मासीत्कर्मान्तरायकम् ॥७६॥

अर्थ—इस प्रकार राजा का वचन सुनकर देवी कहने लगी हे भूप ! इतने दिन पूर्वजन्म का अन्तकराय कर्म था जिसका फल भोगना पडा ॥ ७६ ॥

भवता तत्क्षयं नीतं वृषेण तपसाधुना । भवतो भावि मद्वाक्यात् पुत्र सौख्यमतः परम् ॥७७॥

अर्थ—अब अद्यतम तपस्या से अन्तराय कर्म का तुमने क्षय कर दिया है इसलिये अब मेरे वाक्य से पुत्र का सुख अवश्य मिल जायगा ॥ ७७ ॥

संशयो नैव कर्त्तव्यः कर्मण्यस्मिँस्त्वया नृप ! । एवमस्त्विति धात्रीशेनोक्ते देवी तिरोदधे ॥७८॥

अर्थ—हे राजन् ! इस में जरासा भी संशय मत रखना । देवी के आशीर्वचन सुन कर राजाने कहा कि एसा ही हो इतना कहने पर देवी पुनः अदृश्य हो गई ॥ ७८ ॥

भुञ्जतो भूपतेः सौख्यं विषयोद्भव मेकदा। अजायतापन्नसत्वा भानुमती नृपाङ्गना ॥७९॥

अर्थ—राजा के साथ सासारिक सुखों का अनुभव करती हुई भानुमतिने उत्तम गर्भ को धारण किया ॥ ७९ ॥

स्वप्नान्तर्मानसेऽदर्शि वध्वा सह सरोन्तरे। हंसो देव्या तया खेलन् मुखेन सुपिबन् विषम् ॥८०॥

अर्थ—गर्भवती भानुमतीने स्वप्न में देखा कि मानस सरोवर के अन्दर अपनी स्त्री के साथ खेलता हुआ हंस विष का पान कर रहा है ॥ ८० ॥

तत्स्वप्नं तत्क्षणादेत्य तया राज्ञे निवेदितम्। नृपः प्रमुदितोऽत्यन्त मुवाचाकर्णय प्रिये ! ॥८१॥

एतत्स्वप्न प्रमाणेन राज्यलक्ष्मीधरः प्रियः। तवाङ्गजो यशस्वी च भविष्यति सतां मतः ॥८२॥

अर्थ—स्वप्न देखते देखते निन्द खुल जाने पर शीघ्र ही स्वामी के पास निवेदन कर बैठती है, आद्यन्त घटना सुनकर सहर्ष राजाने कहा हे प्रिये ? सुनो ॥ इस स्वप्न से राज्य लक्ष्मीका आधारभूत यशस्वी पुत्र तेरी कुक्षि से होगा ॥८१-८२॥

तच्छ्रुत्वा च मुदितया सुषुवे च सुतस्तया। सुमुहूर्त्ते शुभे काले ज्योतिर्विद्भिः प्रशंसिते ॥८३॥

अर्थ—उक्त प्रकार से वचन सुनकर आनंद से प्रफुल्लित होती हुई भानुमतीने शुभ समय एवं सुमुहूर्त में ज्योतिषियों से प्रशंसित पुत्र रत्न को जन्म दिया ॥ ८३ ॥

तस्मिन्क्षणे नृपस्याभूद् विना छत्रं न चामरम्। किमप्यदेयं लोकानां सुत जन्म प्रकाशिनाम् ॥८४॥

अर्थ—उस समय राजा के पुत्र जन्म की खुशीयाली में छत्र चामर के विना-अदेय कुछ नहीं रहा। अर्थात् दो चीजें

छोड सब चीजें देने योग्य हो गई ॥ ८४ ॥

सञ्जज्ञे तादृगानन्द स्तदानीं वचनातिगः। यादृङ् न पार्य्यते वक्तुं गुरुणापि मनीषिणा ॥८५॥

अर्थ—उस समय राजा को कैसा आनन्द हुआ ? जिसका वर्णन करने में बुद्धिमानों का शिरोमणि बृहस्पति भी समर्थ नहीं हो सकता ॥ ८५ ॥

तदाकरोन्नृपो रम्यान् विविधानुत्सवान्पुरे। पुत्र जन्म क्षणे निस्वा अपिस्युरुत्सवप्रियाः ॥८६॥

अर्थ—पुत्र जन्म के समय राजाने नगर में अनेक उत्सव किये उस वक्त उदार चित्तवाले एवं निर्धनी नगर निवासियोंने भी उत्सव में सहर्ष भाग लिया ॥ ८६ ॥

आविर्बभूव वै निस्वानन्नादः सकले पुरे। महान् जयजयारावो जातस्त्वखिल वेश्मनि ॥८७॥

अर्थ—सारा नगरमें दीन दुखियों को अन्न देना शुरु करने के कारण घर घर में जय जय शब्दों की धून होने लगी ॥८७॥

सहर्षमाम्र पत्रैश्च जनैर्नगरवासिभिः। निवेशितं निजावासे शुभं प्रवरतोरणम् ॥८८॥

अर्थ—हर्ष से ओतप्रोत होकर के नगर निवासियोंने अपने अपने घरके द्वार पर आम्र के पत्ते से सुन्दर तोरण बनाये ॥ ८८ ॥

चतुष्पथापणश्रेणि ध्वंजाभिः समलङ्कृता। मौक्तिक स्वस्तिक श्रेण्या भूषिता भुवनावलिः ॥८९॥

नारीभि गीतगानानि क्रियन्ते च प्रतिगृहम्। दानेन धनिभिर्लोकैः करःसफलितस्तदा ॥९०॥

अर्थ—चौहटा बजार एवं दुकाने ध्वजा तथा मुक्तामणि एवं साथियों से ऐसी सुन्दर सजाइ गई कि दर्शकों की भीडा भीड होने लगी ॥ ८९ ॥ घर घर में नारियां मांगलिक गाना गाने लगी और धनवान लोग दान देकर के अपने अपने हाथ को सफल बनाने लगे ॥ ९० ॥

मोचितास्तेन भूपेन काराक्षिप्ता बहुनृपाः। अनेकेऽप्यपरे लोकाः पुत्रजन्म क्षणे शुचौ ॥९१॥
कारिताः सुखिनो लोकाः शुल्कादिकर मोक्षणात्। मुक्ताऽश्व हेमदानेनार्थिनोऽपि धनिनः कृता ॥९२॥

अर्थ—पुत्र का जन्म होते ही राजाने जेलखाना को खुलवा कर जेली राजाओं तथा अन्य अनेक कैदियों को सर्वदा छोड दिया ॥९१॥ पुत्रजन्म की खुशीयाली में राजाने कर भाडा दाण आदि को माफ करके प्रजाजन को सुखी कर दिया। उसी प्रकार याचकों को मुक्ताफल घोडा सुवर्ण आदि आदि किमती चीजें देकर सब को धनी बना दिया ॥ ९२ ॥

पितृवर्गोऽपि नाकस्थो मुमुदे गोत्रजोऽपि च। स्वजनाननमानन्दाद्विकस्वरमभूत्तदा ॥९३॥

अर्थ—स्वर्गस्थ पितृवर्ग एवं अपने अपने कुल में उत्पन्न हुए कुटुम्बी तथा सगा सम्बन्धी सब आनन्द में मग्न हो गये। और सहृदय हितचिन्तक पुरुषोंका मुख कमल भी अत्यन्त विकसित हो गया ॥ ९३ ॥

देश सम्बन्धिनः सर्वे बभूवुर्मुदिता जनाः। शत्रुवर्गं विहायैकं श्रुते तदनुजन्मनि ॥९४॥

अर्थ—राजा के पुत्र होने की सूचना सुनकर शत्रु के अलावा सारा देशवासी आनन्द में मग्न हो गये ॥ ९४ ॥

गर्भस्थिते सुते मात्रा हंस स्वप्ने निरीक्षतः। अतः पित्रा शिशोश्चक्रे हंसराजाभिधो मुदा ॥९५॥

अर्थ—जब गर्भ में यह बालक आया उस समय माताने स्वप्न में हंस को देखा इस लिये पिताजीने बालक का नाम स्वप्नानुकूल हंसराज रखा ॥ ९५ ॥

पित्रा तमीक्षमाणोऽपि निर्निमेषं निरन्तरम् । तृप्तिं कदापि न प्राप नेत्र द्वयामृतोपमाम् ॥९६॥

अर्थ—बालक को पल पल देखने पर भी राजा की आंखे तृप्ति नही हुई. क्यों कि अमृत से किसी की तृप्ति हो सकती है ? ॥ ९६ ॥

धात्रिभिः पञ्चभिर्लाल्यमानो बालो दिवानिशम् । वृद्धिमासादयामास वटवृक्षाङ्कुरो यथा ॥९७॥

अर्थ—धाईमाता से हमेश लालन पालन पूर्वक बालक वट वृक्ष के पौधे को तरह दिनानुदिन विशेष बढने लगा ॥९७॥

धात्रिभिः स्पर्द्धयाऽऽन्दोल्यमानः सुष्वाप सोर्भकः । क्षणमेकं जजागार मातुःस्तन्यं पपौ क्षणम् ॥९८॥

अर्थ—धाईमाता हमेश बच्चे को झुलाती है. और बालक कभी सोता है तो कभी उठ बैठता है. और कुछ समय माता का दूध पीने लगता है ॥ ९८ ॥

क्षणमेकं च शयायामुत्सङ्गे जनकस्य च । क्रीडन् पृथिवी प्रदेशे च नासीत्कस्य मुदे शिशुः ॥९९॥

अर्थ—कुछदेर बिछाने पर लेटता है तो फिर शीघ्र ही पिताश्री की गोद में खेलने लगता है और तुरत भूमि पर लेट जाता है। इस प्रकार बच्चे की क्रीडा देख-राजा के हृदय में आनन्द की तरंगे निरन्तर उठने लगी। वास्तविक बच्चे किस को प्यारे नहीं होते ? ॥ ९९ ॥

स्वधात्रीमन्मनोल्लापान् शृण्वन् सम्बन्धि निर्मितान् ।
न्युञ्छनकचयान् गृह्णन् वितन्वन्नन्वयोन्नतिम् ॥ १०० ॥

अर्थ—शिशु अपने धाईमाता की लार प्यार की बातें सुनता हुआ, एवं सम्बन्धियो से किये हुए न्योच्छावर को स्वीकार करता हुआ प्रतिदिन बालक अपने वंश की उन्नति को बढाता जा रहा है ॥ १०० ॥

आलोकयंश्च वात्सल्यं मातृपित्रो पदे पदे । कुलोद्योतकरो बालो जातो वर्ष त्रयान्वितः ॥१०१॥

अर्थ—पद पद में माता पिता का अत्यन्त प्यार को देखता हुआ वंश का उद्योतक बालक तीन वर्ष का हो गया ॥१०१॥

अथ भानुमती पद्मावत्यनुग्रहतः पुनः। असूत द्वितीयं देवी वत्सराजाभिधं सुतम् ॥१०२॥

अर्थ—इसी बीच में पद्मावती की कृपा से भानुमतीने पुनः वत्सराज नाम का दूसरे पुत्र को जन्म दिया ॥१०२॥

तस्मिन् पुत्रे समायाते जहर्ष क्ष्मापतिस्तथा । मुदितः सर्व लोको वै प्राप्त कल्पतराविव ॥१०३॥

अर्थ—वत्सराज का जन्म होने पर राजा तथा प्रजाने वैसा अपूर्व आनन्द मनाया कि जैसे देवता कल्पवृक्ष को पाकर मनाते है ॥ १०३ ॥

लोचनानन्दकारिभ्यां नृपस्ताभ्यामराजत । नित्यं यथा वियच्चन्द्र सूर्याभ्यामिव राजते ॥१०४॥

अर्थ—आकाश के अन्दर सुशोभित सूर्य और चन्द्रमा के समान, दोनो नेत्रों को सुखकारी हंसराज और वत्सराज नामक दोनों पुत्रों से राजा विशेष शोभायमान होने लगा ॥ १०४ ॥

नृपो हरिं जयन्तैक पुत्रान्वितममन्यत। तृणवच्च सुतद्वन्द्व पवित्रित निजाङ्कभाग् ॥१०५॥

अर्थ—दोनों बालक से विभूषित अपनी गोद को देख राजा जयन्त नामक पुत्र सहित इन्द्र को तृण जैसा मानने लगा ॥ १०५ ॥

तस्थौ सुखेन पुत्रास्येक्षणालिङ्गन लालनैः। मनोमध्ये प्रियाराज्ञो मन्यमाना महासुखम् ॥१०६॥

अर्थ—भानुमती रानी बालक का मुखकमल देखती हुई एवं लारप्यार करती हुई आनन्द से अपने को धन्य समझ कर महासुख मान रही है ॥ १०६ ॥

जिनवरवरधर्माऽऽराधनं कुर्वतीस्वं विषयरस विरक्ता दीन दान प्रवीणा।
सुतयुगमुपरिष्टात्प्रेमभावं त्यजन्ती नरवर दयितायुः पुरयामास शेषम् ॥१०७॥

अर्थ—फिर अल्पकाल में ही रानी भानुमती जिनेश्वर भाषित धर्म की सुन्दर-आराधना करती हुई, विषयवासना से सर्वथा विरक्त होकरके दीन दुःखी को दान देने में बडी चतुर होती जा रही है। और मन हीमन दोनों पुत्रों से भी प्रेमभाव को हटाती हुई शेष आयु को पूर्ण करने में संलग्न है ॥ १०७ ॥

इत्थं सुखमये काले घनेऽतीते विधेर्वशात्। आकस्मिकः समुत्पनो भानुमत्यास्ततो गदः ॥१०८॥

अर्थ—उक्त प्रकार से सुखमय समय यापन करती हुई भानुमती को भाग्यवश अचानक रोगने घेरली ॥ १०८ ॥

राजा राज्ञी वपुर्ज्ञात्वा रोगाक्रन्तं क्षणादपि। आकारितो दिने तस्मिन् निमितज्ञाश्चिकित्सकः ॥१०९॥

अर्थ—रोगसे व्याप्त रानी का शरीर देखकर राजाने उसी समय निदान के जानकर वैद्यराज को बुलवाया ॥ १०९ ॥

तेनाकस्मान्नृपोपान्त मेत्याकर्ण्य च तद्वचः। निरीक्ष्य नाडिकां तस्या वैद्योऽवोचन्नृपम्प्रति ॥११०॥

अर्थ—वैद्यराज राजा के समीप पहुंच कर भानुमती का सब कुछ हाल देख सुनकर राजा को कहने लगा ॥ ११० ॥

राजन्नाकर्ण्यतामेकं मद्वाक्यं कर्णदुःश्रवम्। राज्ञी देहेऽस्ति सञ्जातः कालज्वरो महागदः ॥१११॥

अर्थ—हे राजन्? मेरी अप्रिय बात सुनिये कि रानीके देह में कालज्वर नाम का महारोग उत्पन्न हो गया है ॥ १११ ॥

भेषजेन कृतेनापि तस्य शान्तिर्न भाविनी। निमित्तज्ञोऽस्मि तेनाहं त्वत्पुरो वक्तुमुत्सहे ॥११२॥

अर्थ—चाहे कितनी भी दवा करें, किन्तु छुटकारा पाना कठिन है, क्योंकि मैं निदान का पूर्ण जानकार हूं, अतः अप्रिय भी सत्य बातें सुना रहा हूं ॥ ११२ ॥

असाध्यो भिषजां रोग स्त्वज्जायाकरण स्थितिः। कालज्वरेण ते पत्नी पक्षान्ते मृत्युमाप्स्यति ॥११३॥

अर्थ—रानी के शरीर में जो रोग है वो सर्वथा असाध्य है अतः इसी काल ज्वरसे इसी पखवारा के अन्तमें यह आप की रानी स्वर्गपुरी की अतिथि बन जायगी ॥ ११३ ॥

अत्रार्थे शृण्वभिज्ञानमेक प्रत्यय कारणम्। त्वदासनहयोऽकस्मात् त्रिदिनान्ते मरिष्यति ॥११४॥

अर्थ—इस बात का विश्वास कराने के लिये एक बात ओर कहतां हूं कि आप के बैठने का जो उत्तम घोडा है वह आकस्मिक तीसरे दिन मर जायगा ॥ ११४ ॥

संशयोऽत्र न कर्त्तव्यो नान्यथा मम भाषितम्। प्रलयेऽपि वचोऽसत्यं न जल्पति निमित्तवत् ॥११५॥

अर्थ—इसमें कोई संदेह नहीं है. मैं सर्वथा झूठ नहीं बोलता. क्योंकि प्रलयकाल में भी निमित्तज्ञ झूठ नहीं बोलते है ॥

इत्युक्त्वा विरतं राजा ज्ञानिनं विससर्ज तम्। शुद्धान्तभागमागत्य नृपस्तस्यै तदूचिवान् ॥११६॥

अर्थ—निस्पृह एवं ज्ञानी निमितज्ञ को विदा करके राजा महल के अन्दर आकर के राजाने अपनी रानी को वैद्यराज की सब बातें कह सुनाई ॥ ११६ ॥

तच्छ्रुत्वोवाचनृपतेः प्रिया प्राणप्रिय! शृणु। अत्रार्थे संशयः कस्ते दुःखचिन्ता कथं वृथा ॥११७॥

अर्थ—राजा के वचन सुनते ही रानीने कहा कि हे प्राणवल्लभ! सुनिये इसमें संशय क्या है? और आप वृथा दुःख एवं चिन्ता क्यों करते है? ॥ ११७ ॥

देवानां दानवानां च चक्रिणा मर्हतामपि। नरेश्वराणामिन्द्राणां मरणं शरणं ध्रुवम् ॥११८॥

अर्थ—क्योंकि–देव, दानव, चक्री, अरिहंत, राजा और इन्द्र का भी मरना ही शरण नियत है ॥ ११८ ॥

छायामिषेण कीनाशः प्राणिनामन्तिकं सदा। परिभ्रमत्यहोरात्रमङ्गिनां मृत्युभीः कथम् ॥११९॥

अर्थ—छाया के व्याज से यमराज प्राणियों के समीप हमेश घूमता रहता है. तो फिर मृत्यु का डर ही क्या? ॥११९॥

व्योमप्रदेशलीनस्य तस्थुषो गिरिमस्तके। दरीगृहप्रविष्टस्य जन्तोर्दूरे विधिर्नहि ॥१२०॥

अर्थ—जो व्यक्ति आकाश प्रदेश में लीन है अर्थात् निराधार है. अगर कोई पहाडों की चोटी पर निवास कर लेता

है, या कोई गुप्त गुफा में बैठ जाता है फिर भी उस को भाग्य प्रतिपल साथ ही रहता है दूर नही ॥ १२० ॥

सर्वथा नास्ति राजेन्द्र ! मृत्यु भी र्मम मानसे । तथापि धर्मपाथेय मिच्छामि साम्प्रतं नृप ! ॥१२१॥

अर्थ—हे राजेन्द्र ! मेरे मनमें मृत्यु का डर थोडासा भी नही है, फिर भी हे वल्लभ ! धर्मरूपी जलपान लेना चाहती हूं ॥ १२१ ॥

अद्य यावद्धनंनोप्तं सप्त क्षेत्र्यां मनागपि । दया दान मपि स्वामिन् ! नकृतं तु कदाचन ॥१२२॥

अर्थ—हे स्वामिन् आज दिन पर्यन्त न तो साधु साध्वी श्रावक, श्राविका जिनमन्दिर, जिनप्रतिमा और जिनागम-रूप सप्त क्षेत्र में धन थोडासा भी बोया, और न कभी दया दान ही किया ॥ १२२ ॥

जिनोपदिष्ट आजन्म धर्म आराधितो नहि । आजीवितं मनः शुद्धया जिनाज्ञानैव पालिता ॥१२३॥

अर्थ—जिनेश्वर से बताये हुए धर्म का आराधन जीवनभर न तो किया है और न मनः शुधि से जिनेश्वर देव की आज्ञा ही पाली ॥ १२३ ॥

पारवश्यं च दौर्भाग्यं वन्ध्यात्वं वचनीयताम् । सपत्नी संगजं दुःखं नाज्ञासिषमहं विभो ! ॥१२४॥

अर्थ—हे स्वामिनाथ ? आपकी दयासे न तो पराधीनता है न दुर्भाग्यता है न वांझपना है और न मुझे सौत के कारण दुःख है । फिर अनुभव की तो कथा ही क्या ? ॥ १२४ ॥

महिषीत्वं सुतावाप्तिं प्राप्ता सुभगताधिका । स्वाधीनता च प्रभुताऽनुभूता मे न मृत्युभीः ॥१२५॥

अर्थ—हे विभो! आप की परम दयासे मैं पटरानी पद पाचूकी हूं, दो पुत्रों की माता कहलाती हूं, और पूर्ण सौभाग्यवती संसारमें कहलाई। और स्वाधीनता एवं प्रभुता का भी अनुभव कर लिया। अब मुझे मृत्यु का भय क्या? ॥१२५॥

परन्तु याचे त्वत्पार्श्वे साम्प्रतं मा विलम्बय। अन्त्यकालोचितां धर्मसामग्रीं कुरु मामकीम् ॥१२६॥

अर्थ—अब आप के पास मैं प्रार्थना करती हूं कि मेरे लिये अन्त काल की धर्म सामग्री इकट्ठी कर दीजिये। इस में देर न कीजिये ॥ १२६ ॥

चिर सञ्चितपापानां कर्तुंसद्गुरू साक्षिकम्। मिथ्यादुष्कृतदानेन शुद्धि मिच्छामि स्वात्मनः ॥१२७॥

अर्थ—अनेक पूर्व संचित पापोंकी आलोचना गुरुके पास लेकरके मिच्छामि दुक्कडं पूर्वक आत्माकी शुद्धि करना चाहती हूं॥

तस्मिन्नवसरेऽकस्मात्सूरिः प्रद्योत्तनाभिधः। आगात्पुण्येन तस्याश्च सापि प्रमुदिताऽभवत् ॥१२८॥

अर्थ—इसी अवसर में प्रबल भाग्योदय से अचानक आचार्यदेवश्री प्रद्योतनसूरिजी महाराज को नगर में आये हुए देख रानी भानुमती बहुत खुशी हुई ॥ १२८ ॥

विज्ञसं सद्गुरोः पाद युगं नत्वा तया तदा। भगवन्! पुण्यपाथेयदानान्मम कृतार्थय ॥१२९॥

अर्थ—सूरिदेव के चरणकमल को वन्दना करने के बाद भानुमती सविनय प्रार्थना करने लगी। हे भगवन्! धर्मरूपी जलपान देकर के मुझे कृतार्थ कीजिये ॥ १२९ ॥

भवाम्भोधि निमग्नां मां गर्भवासभयातुराम्। देशनायानपात्रेण तारयावसरोऽधुना ॥१३०॥

अर्थ—हे गुरुदेव ! मै संसार रूपी समुद्र में डूबती जा रही हूं. गर्भावास के डरसे व्याकुल हो रही हूं. अतः अभी भी अवकाश है कि आप मुझे देशना रूपी–नौका द्वारा बचाईये ॥ १३० ॥

तया सद्गुरु संयोगात् क्षामणाऽलोचनादिना । व्रतोच्चारण सत्पुण्याभिनन्दनबलेन च ॥१३१॥

अर्थ—सद्गुरु के दर्शन से, क्षमापनासे, आलोचनासे, किये गये व्रतों के उच्चारण से और स्तुति से पुण्य का उपार्जन भानुमती करने लगी ॥ १३१ ॥

पाप स्थान निषेधेन विरक्ता संसृते स्तथा । शुभ भावनयाहार त्याग योगेन च क्रमात् ॥१३२॥

अर्थ—एव पापस्थानक के निषेध से, शुभ भावना से, आहार के परित्याग से, और संसार से विरक्ता भानुमती पुण्य का सञ्चय करने लगी ॥ १३२ ॥

चतुःशरणसिद्धान्तो पदेशश्रवणेन च । परमेष्ठिनमस्कार स्मृत्या पुण्यमुपार्जितम् ॥१३३॥

अर्थ—अरिहंत सिद्ध साधु और केवलीभाषित धर्म, इन चार शरणो को स्वीकार करती हुई, सिद्धान्त का उपदेश श्रवण पूर्वक, पञ्चपरमेष्ठि नमस्कार का ध्यान धरती हुई पुण्यलता को विशेष बढाने लगी ॥ १३३ ॥

नृपतिप्रमुखो लोकः सर्वोऽपि स्वपरस्तया । क्षामितो मनसः शुद्ध्या जिनेशध्यान लीनया ॥१३४॥

अर्थ—जिनेश्वर के ध्यान में लीन भानुमतीने मनशुद्धि से राजा प्रमुख सब लोगों से क्षमापन किया ॥१३४॥

जिनेशाचरणावस्तु शरणं मे भवे भवे । चित्रभावानुभूतेन सृतं संसृति शर्मणा ॥१३५॥

अर्थ—भानुमती मन ही मन सोचती है कि मैंनें प्रार्थना पूर्वक अद्भूत प्रेम के अनुभव से संसार सुख के लिये दोनों पुत्रों को जन्म दे दिया । और अब मेरे-लिये भवो भव में जिनेश्वर देव के चरण ही शरण हो ॥१३५॥

सा सूनुद्वयमाकार्य्य क्षामयित्वा च सादरम्। निजपादान्तिकासीनौ शिक्षयामास तौ सुतौ ॥१३६॥

अर्थ—तदनंतर अपने लडकों को बुलाकर सादर क्षमा मांगती हुई हित-शिक्षा देने लगी । उस समय दोनों पुत्र माता के चरणों में बैठे हुए श्रवण करने लगे ॥ १३६ ॥

वत्सौ युवां महादक्षौ राज्यधूर्य्यौ जनप्रियौ। सस्नेहलौ मिथः पितृभक्तौ स्तो यद्यपि ध्रुवम् ॥१३७॥

तथापि धर्मविकलौ युवां दृष्ट्वा दुनोम्यहम्। शिक्षां दातुं तु युवयोः स्नेहाच्चित्तंममाकुलम् ॥१३८॥

अर्थ—हे बेटाओं! यद्यपि तुम दोनों राज्यभार उठाने में निपुणहो, स्नेहसम्पन्न हो. लोगों के प्रिय हो. और पिताजीके भी तुम परम भक्त हो ॥ फिर भी धर्मरहित तुम दोनों को देखकर में दुःख पाती हूं। अत एव शिक्षा देने के लिये मेरा मन स्नेह से व्याकुळ हो रहा है ॥ १३७-१३८ ॥

लोकेऽत्र पुण्यकलिताः केऽपि संति सुखान्विताः। नीरोगिणश्च धनिनः सर्वशास्त्रविशारदाः ॥१३९॥

अर्थ—इस असार संसार में सब तरह से सुखी, रोग रहित, धनी, और सर्वशास्त्र-का जानकर वही व्यक्ति है जो कि पूर्ण पुण्यशाली है ॥ १३९ ॥

ओजस्विनो दानशोण्डा भाग्य सौभाग्य सेविताः। यशस्विनो राजमान्या भवेयुः पुण्ययोगतः ॥१४०॥

अर्थ—पूर्व पुण्य के योग से ही मानव प्रतापी, दान में रुचिवाला, सौभाग्य से सम्पन्न, यशस्वी और राजाओंके माननीय होता है ॥ १४० ॥

पापादन्ये यशोहीना महामययुताः सदा। दृश्यन्ते मानवा मूढाः स्वकुक्षि भरणाक्षमाः ॥१४१॥

अर्थ—जो व्यक्ति पापी है वही यश से हीन, महारोगी, मूर्ख और अपने पेट भरनेमें भी असमर्थ होता है ॥१४१॥

वियोगिनः पराधीना धनहीनाश्च दुःखिनः। दैन्य दौर्जन्यदौर्भाग्य भाजिनो भाग्यवर्जिताः ॥१४२॥

अर्थ—एवं पापी जन, विरही, पराधीन, धनशून्य, दुःखी, दीन, दुर्जन और दुर्भाग्यसे सम्पन्न और भाग्यरहित होता है॥

इदक् सुकृतमहात्म्य विमृश्य हृदये निजे। आलस्यं नैव कर्त्तव्यं जिन धर्मे तु दुर्लभे ॥१४३॥

अर्थ—ऐसे धर्म और अधर्म के महात्म्य को पूर्ण रूप से हृदय में धारण कर के दुर्लभ जिनधर्म में आलस्य नहीं करना चाहिये ॥ १४३ ॥

यथा यथाऽर्हतं धर्मं करिष्यथो युवां भृशम्। तथा तथा परत्रेह सुखिनौ तु भविष्यथः ॥१४४॥

अर्थ—चूंकि-जैसे जैसे तुम दोनो जिनधर्म पालन करोगें वैसे वैसे ही इस लोक में एवं परलोकमें सुख पाओगें ॥

परमेष्ठिनमस्कार गुणने सार्वं सेवने। आवश्यकादिकरणे यतितव्यं गुरोर्गिरा ॥१४५॥

अर्थ—पञ्च परमेष्ठि नमस्कार का गुणना, स्मरण एवं मनन करना तथा आवश्यक क्रिया आदि धर्म कार्य गुरुकी वाणी के अनुसार ही करना चाहिये ॥ १४५ ॥

शिक्षांस्वकीय सुतयो र्जिनधर्म सक्तां, दत्त्वा शुभं निचितकर्म शुभेन दग्ध्वा ।
ध्यानेन सा त्वनशनेन निजं प्रपूर्य्य, निःशेषमायुरमरत्वमवाप राज्ञी ॥१४६॥

अर्थ—उपरोक्त प्रकार से दोनों बालकों को जिनधर्मकी शिक्षा देकर पूर्व-संचित अशुभ कर्म को शुभ ध्यानानल द्वारा जलाकर अनशन पूर्वक शेष आयुकी पूर्त्ति करके राणी भानुमती अमर लोककी देवी बन बैठी ॥ १४६ ॥

इति हंसराज वत्सराज कथायां भानुमती स्वर्गगमनो नाम प्रथमो विश्रामः ॥

श्री हिमाचलन्तेवासी-मुमुक्षु भव्यानन्दविजय कृत हिन्दी भाषानुवाद श्री हंसराज वत्सराज कथान्तर्गत भानुमती स्वर्गगमन नामक प्रथम सर्ग समाप्त हुआ ।

इति प्रथम सर्गः

॥ अथ द्वितीयो सर्गः ॥

इतश्च धारिणी राज्ञी सगर्भा शुशुभेऽधिकम्। राजते शुक्तिकेवाति मुक्तामध्या मनोहरा ॥१॥

अर्थ—इधर धारिणी नाम की दूसरी राणी गर्भवती हुई उस समय मुक्ता सहित, शुक्तिका की तरह मनोहर एवं अधिक शोभा देती थी ॥ १ ॥

सुषुवे सुमुहूर्त्ते सा पुत्ररत्नं मनोहरम्। मातुर्मनसि मातिस्म प्रमोदो न तदीक्षणात् ॥२॥

अर्थ—धारिणीने शुभ मुहूर्त्त में सुन्दर पुत्र रत्न को जन्म दिया। उस वक्त अपने बालक के देखने से माता के मन में आनन्द की सीमा न रही ॥ २ ॥

उत्सयो विदधे राजाऽनेकधा नगरान्तरे। धनराजः सुतस्येति नाम निर्मितवान्नृपः ॥३॥

अर्थ—राजाने शहरके बहार तथा भीतर अनेक प्रकारके उत्सव करवाये और जात शिशुका धनराज नाम करण किया ॥

क्रमेण मातुरङ्कस्थो ववृधे सुखमर्भकः। मातुर्मनोरथैः सार्धं जातो वर्षद्वयात्मकः ॥४॥

अर्थ—माता की गोद में सुख पूर्वक खेलता हुआ, एवं माता के मनोरथ के साथ लडका धनराज बढता हुआ दो वर्ष का हो गया ॥ ४ ॥

एकदा सुतमुत्सङ्गे निवेश्य रहसि स्थिता। न शृणोति यथा कोऽपि तथा प्रोवाच सा शिशुम् ॥५॥

अर्थ—एक दिन धारिणी माता बालक को गोदी में बैठा कर, कोई सुन नही सकता है ऐसा एकान्त समझ

कर बच्चे को कहने लगी ॥ ५ ॥

करोमि वत्स ! सोत्कण्ठं न्युच्छनं तवनेत्रयोः। चन्द्राननस्य भव्यस्य भूयोभूयः श्रिये सदा ॥६॥

अर्थ—हे वत्स ! मैं उत्कण्ठा पूर्वक तेरे नेत्र और चन्द्र के समान सुन्दर मुख के उपर हमेशा कल्याण के लिये वारम्वार न्यौच्छावर करती हूं ॥ ६ ॥

मज्जीवितेश ! सत्पुत्र ! पूरयास्मन्मनोरथम्। मदाशिषा क्रमायात राज्यभार धरो भव ॥७॥

अर्थ—हे मेरे जीवन के आधार ! हे सत्पुत्र ! मेरा मनोरथ पूरा करो। और मेरे आशीर्वाद से परम्परा से आये हुए राज्य का भारधारण करने वाला हो ॥ ७ ॥

इत्युक्त्वा विरतां राज्ञीं प्रति प्रोवाच चेटिका। कालिकाख्याः कथं देवि ! व्यर्थमेवं प्रजल्पति ॥८॥

अर्थ—ऐसे कहकर चुप होती हुई रानी को कालिका नाम की दासीने कहा कि हे देवि ! ऐसी व्यर्थ वार्ते क्यों करती हो ! ॥ ८ ॥

हंसराजस्तथा वत्सराजश्चेमौ तु यावता। विदितौजनताभीष्टौ राज्यभारधुरन्धरौ ॥९॥
तावता ते तनुजस्य शिशो राज्यं कथं भवेत्। ग्रहस्य स्यात्कुतस्तेजः सतोश्चन्द्र विवस्वतो ॥१०॥

अर्थ—जब तक हंसराज और वत्सराज दोनों राजकुमार राज्यके भार-वहन करने में वडे कुशल, और जनताके भी वडे प्यारे है तव तक तेरे लडकेको राज्य कहां ! जैसे कि सूर्य और चन्द्रमांके सामने ग्रहोंका तेज कहां ! ॥ ९-१० ॥

तयाचिन्तिनिजेचित्ते चेटी सत्यं प्रजल्पति । सपत्नीजौ यदैतौ तु राज्यं सूनोः कुतो मम ॥११॥

अर्थ—धारिणी मन ही मन सोचती है कि दासी ठीक बोल रही है चूंकि सौत के दो लडके होते हुए मेरे लडके को राज्य कहा से मिल सकेगा ! ॥ ११ ॥

गर्भे न गलिता सा किं तस्याजन्माभवत् कथम् । यस्य दुःख सपत्नीजं स्याद्वा तत्सन्तति क्षणम् ॥१२॥

अर्थ—यह सौत गर्भ में ही क्यों न गलगई ! अथवा उसका जन्म ही क्यों हुआ ! जिसकी सन्तान से ऐसे दुःख का अवसर उपस्थित हुआ ॥ १२ ॥

सपत्नीसुतवक्त्राब्ज निरीक्षण महो विधे !। न निषेद्ध त्वमीशोऽसि न मे शल्यमतः परम् ॥१३॥

अर्थ—हे विधाता ! सौत के लडके का मुख कमल को देखना मेरे लिये–इससे बढकर दूसरा कोई कांटा नहीं है । इस लिये इस कांटे को हटाने में–तुम क्या समर्थ नही हो ! ॥ १३ ॥

अथवाऽल मुपालम्भै र्विधेः प्रकृतिवैरिणः । यथाऽनिष्ठौ पितुः स्यातां करिष्ये तां मतिं शनैः ॥१४॥

अर्थ—अथवा कुदरत के विरोधी नियम से उलाहना देना वेकार है अतः धीरे धीरे ऐसा उपाय करुं कि ये दोनों भाई पिताश्री को अप्रिय हो जाय ॥ १४ ॥

नैव सेत्स्यति मत्कार्यं मन्ययापि हि वार्त्तया । हृदि शल्यौ तदैतौ हि जीवन्तौ ननु यावता ॥१५॥

अर्थ—जवतक मेरे हृदय में शल्यरूप ये दोनो कान्टे जीवित है तब तक दूसरी बात से मेरा कोई भी कार्य सिद्ध

नहीं हो सकेगा ॥ १५ ॥

मत्सूनो राज्यसन्देह स्तावता मत्सुखं कुतः । अतः कुर्वे तथोपायं यथैतौ मृत्युमाप्नुतः ॥१६॥

अर्थ—जबतक मेरे बेटे को राज्य मिलने का संदेह है तब तक मुझे सुख कहां। इस लिये ऐसा उपाय करुं कि इन दोनों की मृत्यु हो जाय ॥ १६ ॥

मृतानां चित्रदृशानां क्षत्रियाणामजन्मिनाम् । त्रिधा विश्वसनीयं त्वपरथा नैव विश्वसेत् ॥१७॥

अर्थ—जो मरा हो, या जन्म नहीं लिया हो, अथवा फोटों में जो दृश्य हो, इन तीनों क्षत्रियों का विश्वास करना चाहिये, किन्तु इतर क्षत्रियों का विश्वास नहीं करना चाहिये ॥ १७ ॥

चिन्तयन्निति नो लेभे कोऽप्युपायस्तयोर्वधे । अतश्चिन्तापरातस्थौ विलक्षवदनाभृशम् ॥१८॥

अर्थ—इस प्रकार चिन्तवन करती हुई मारनेका उपाय ढूंढने लगी। परन्तु उपाय न मिलने पर चिन्तायुक्त मुखसे बैठी है ॥

कुठक्कुराणां दस्यूनां विटानां द्यूतकारिणाम् । ईप्सितानि न सिद्ध्यन्ति जगत्तेन प्रवर्तते ॥१९॥

अर्थ—कुचाली ठाकुर, चौर, लम्पटी विटल तथा जुआरीयों के मनोनुकूल बातें सिद्ध नहीं होती। इसी से दुनिया चलती है। अन्यथा सारी दुनिया उथलपुथल हो जाय ॥ १९ ॥

नैवं घनतरे काले गतेऽपि विरराम सा । दुष्टाभिप्रायतो यस्मात् पिशुना मलिनाशया ॥२०॥

अर्थ—उक्त प्रकार से बहुत समय बीतने पर भी दुष्ट स्वभाववाली राणी धारिणी शान्त नहीं हुई। होवे भी क्यों !

चूंकि दुष्टो का आशय नियत मलिन ही रहता है ॥ २० ॥

एकदाऽवसरे प्राप्ते नृपं प्रोवाच धारिणी । तनयौ ते निरातङ्का वटतः स्वेच्छया पुरे ॥२१॥

अर्थ—एक दिन धारिणीने समय पाकर राजा से कहा. हे राजन् ! आपके वडे दोनों पुत्र शंका रहित अपनी इच्छाके अनुसार गाम में घूमते रहते है ॥ २१ ॥

तनुजो जलकेलिं च वापी कूपसरस्सुच । मृगयार्थं वनोद्देशे गच्छतो वा कदापि हि ॥२२॥

अर्थ—वावडी कूआ और तालावमें जलक्रीडा करते है तथा दोनों भाई शिकारके उद्देश्यसे वनमें भी चले जाते है ॥२२॥

प्राणेश ! किम्बहूक्तेन यदि राज्यं क्रमागतम् । निजाङ्गजप्रदानेन स्थिरीकर्तुं त्वमिच्छसि ॥२३॥

तदा निवार्य्य वुद्ध्यैव भ्रममाणो वनादिषु । निजाङ्गजौ सुयनात्त्वं स्थापयैतौ गृहान्तरे ॥२४॥

अर्थ—हे प्राणनाथ ! विशेष कहने से क्या ! अपने परम्परा से आये हुए राज्यको राजकुमारको देना चाहते है तो इन कुमारो को वन में घूमते हुए को रोकिये तथा यत्न पूर्वक घर में रख इन को ठीक कीजिये ॥ २३ ॥ २४ ॥

कदाचिच्च वनोद्देशे भ्रमतोऽस्तु कुमारयो । चेदायाति रिपोर्वर्गो बालयोः का गतिस्तदा ॥२५॥

अर्थ—दोनों कुमार कभी वनमें फिरनेके लिये चले जायेंगे. अचानक शत्रु वर्ग आ गया तो दोनोंकी क्या गति होगी ! ॥

एतौ विनास्ति कोप्यन्यो राज्यधुर्य्यस्तवाङ्गजः । स्कन्धाधिरोपिते भारे वोढुं तु धवलौ क्षमौ ॥२६॥

अर्थ—इन दोनों के विना राज्य का भार दूसरा कौन पुत्र लेनेवाला है ! आप के कन्धे पर का भार तो यही दोनों

पुत्र उठाने में समर्थ है ॥ २६ ॥

अथ त्वया तथा कार्य्यं यथागेहं न मुञ्चतः । तदा वासस्थितौ चित्रक्रीडां वितनुतोऽमलाम् ॥२७॥

अर्थ—अब आप ऐसा उपाय करें कि निर्मल क्रीडा करते हुए दोनो कुमार घर को छोड वहार न जावे ॥ २७ ॥

राज्योचिताविमौ जातौ गेहचिन्तापराङ्मुखौ । अद्यापि बालवत्क्रीडां विविधां नैव मुञ्चतः ॥२८॥

अर्थ—राज्य के लायक दोनों कुमार हो चूके. फिर भी घर की चिन्ता नहीं करते हुए बालक की तरह खेल खेलनें मे समय बीता रहे है ॥ २८ ॥

त्वद्गेहे वाटिका रम्या दीर्घिकाऽस्त्यम्बुपूरिता । वारिजालंकृता वापी सरश्चित्रं मनोहरम् ॥२९॥

अर्थ—आप को हवेली में सुन्दर बगीचा तथा जल से परिपूर्ण छोटा जलाशय है । एवं कमलों से शोभित बावडी तथा मनोहर एवं विलक्षण सरोवर भी है ॥ २९ ॥

दन्तिनोऽम्बुदगर्जन लक्षिता गिरिसन्निभाः । तुरगास्त्वरगाः संति विविधाः करसम्भवाः ॥३०॥

अर्थ—मेघ गर्जने के समान गर्जावर करने वाला हाथी पहाड के समान, और अच्छी जाति में पैदा हुए घोडे पवनवेग के समान दिखते है ॥ ३० ॥

सारिकाः पञ्जरस्थाश्च शुका मधुरभाषिण । विद्यन्ते केकिनोऽनेके पारावताः सुशिक्षिताः ॥३१॥

अर्थ—अपने बगीचेमें मैना तथा पिंजरे में मधूरभापी पोपट और अनेक मोर तथा अच्छी शिक्षा पाये हुए कबूतर भी मौजुद है ॥ ३१ ॥

आलेख्य शालाकलिता आवासाः ससभूमिकाः। चित्रदेशागतानन्तजनताकौतुक प्रदाः ॥३२॥

अर्थ—सात मंजिल का सुन्दर मकान अनेक चित्रों से सुसज्जित है जिसको देखनेके लिये अनेक जनता उत्कण्ठा-पूर्वक आती जाती है ॥ ३२ ॥

क्रीडतो यत्र कुत्रापि क्रीडयानेकया सुतौ । त्वद्वेश्माभ्यन्तरे सर्वातङ्कशङ्काविवर्जिते ॥३३॥

अर्थ—सब तरहके भयसे रहित आपके महलमें शंका रहित कहीं भी आपके दोनों कुमार खेल कूद कर सकते है ॥

अस्मिन्कार्ये कृतेनाथ ? मम भावि महत्सुखम्। उपायेनापि विदुषा रक्ष्यं वस्तु हि रक्ष्यते ॥३४॥

अर्थ—हे नाथ! इस कार्यके करनेसे मेरेको बहुत सुख होगा । और पण्डित रक्षणीय वस्तुकी युक्तिसे भी रक्षा करते है ॥

अथावदत् क्षमानाथ आयतिज्ञाऽसिवल्लभे ?। भव्यं कृतमहं पुत्र-वृत्तान्तं ज्ञापितस्त्वया ॥३५॥

अर्थ—धारिणी की बातें सुन राजाने कहा, हे वल्लभे ! तूं भविष्य को जाननेवाली हो, तुमने अच्छा किया कि पुत्रों का समाचार सुनाया ॥ ३५ ॥

अनुशास्ति तयोर्दासौ तावाकार्येतथोचिताम्। यथामद्वचनात्प्रीतौ स्थास्यतः स्वगृहान्तरे ॥३६॥

अर्थ—इसके बाद राजाने राजकुमार के सेवक को बुला करके कहा कि राजकुमारों को अपने घर के अन्दर ही रहने से अच्छा रहेगा ॥ ३६ ॥

पित्रादिष्टं वचः पथ्यं सुतयोः किन्न रोचते । सर्वः कोऽपि सुखाकांक्षी बिभेति रिपुवर्गतः ॥३७॥

अर्थ—पिता के हित वचन बालक को क्यों नहीं रुचता ! क्योंकि सुख चाहने वाले सब शत्रुवर्गसे डरते ही है ॥३७॥

आहूय भूधवेनाथ कदापि सुतयोर्युगम् । तदादिष्टं ततस्ताभ्यां तद्वचोऽङ्गीकृतं पितुः ॥३८॥

अर्थ—एक दिन राजाने दोनों कुमारोंको बुलाकर सब बातें कह सुनाई, दोनों कुमारोंने भी पिताश्री की आज्ञा शिरोधार्य्य समक्ष सहर्ष स्वीकार करली ॥ ३८ ॥

जनकादेशतस्तत्र वसतस्तावहर्निशम् । बाल्यत्वोचितया चित्रक्रीडया रमते मुदा ॥३९॥

अर्थ—अपने पिताश्रीके आदेशानुसार दोनों भाई राजमहल के अन्दर ही वचपनके योग्य अद्भूत खेल खेलने लगे ॥

शुकसारिकयोः क्रीडां कदाचित्तुरगेभयोः । कदाचिद्धंसबकयोः कुरुतस्तावनारतम् ॥४०॥

अर्थ—कभी तोता मैना का खेल, कभी हाथी घोडे का खेल, कभी हंस और बक का खेल दोनों भाई आनन्द से हमेशा खेलने लगे ॥ ४० ॥

वापीकूपतडागाम्भोनिमज्जनसुकर्मणा । वाटिकाया विनोदेन तरूराजीक्षणेन च ॥४१॥

अर्थ—बावडी, कूआं और तालाब के जल में दोनों भाई डूबकी लगाकर नहा रहे है और बगीचेके हरे भरे वृक्षोंको देख देखकर प्रफुल्लित हो रहे है ॥ ४१ ॥

सबन्धो हंसराजस्य करादुड्डीय चान्यदा । जगाम धारिणी हस्ते शुकोऽध्यापनभीतितः ॥४२॥

अर्थ—एक समय भाईके साथ हंसराज के हाथ से तोता पढने के भय से उडकर धारिणी के हाथ में चला गया ॥

साऽपि प्रमुदिताऽत्यन्तं शुकं दृष्ट्वेत्यभाषत। अन्यत्र नैव गन्तव्यमत्र स्थेयं त्वया गृहे ॥४३॥

अर्थ—अचानक हाथ में आया हुआ तोता को देखकर धारिणी बोली. हे शुक! यह घर तेरा ही है दूसरी जगह न जाकर इसी घरमें रहना ॥ ४३ ॥

शुकस्तामाह हे मातर्निर्विण्णोऽध्यापनादहम्। क्षणं विश्रम्य यास्यामि कुमारस्य करे स्वयम् ॥४४॥

अर्थ—तोताने कहा कि हे माता! मैं पढने के डर से आया हूं. कुछ समय विश्राम लेने के बाद कुमार के हाथ में अपने आप पुनः चला जाउंगा ॥ ४४ ॥

पुनस्तं धारिणी प्राह पटुभिर्मधुराक्षरैः। अध्यापयिष्ये नैव त्वां भुंक्ष्वाहारं पिबामृतम् ॥४५॥

अर्थ—फिर धारिणीने मधूर शब्दो में कहा कि हे शुक! तुझे मैं नही पढाउंगी, तूं यहा-सुख से भोजन कर और अमृत समान पानी पी ॥ ४५ ॥

एतद्वचस्तु मावादीरम्ब! मूढजनोचितम्। अस्मत्कुलद्विजातीनां पाण्डित्यमेव मण्डनम् ॥४६॥

अर्थ—तोताने कहा. हे अम्ब! मूर्ख जनके उचित बोलना ठीक नही, क्योंकि मेरे कुल में तथा ब्राह्मणों के कुल में भूषण ही पण्डिताई है ॥ ४६ ॥

शाल्मलिवृक्षजाः कीरा वचनोल्लापकोविदाः। भवन्ति सर्वलोकानां भूपतीनामपि प्रियाः ॥४७॥

अर्थ—शालमलि वृक्षसे आये हुए प्रिय एवं मधूर बोलने वाले, विद्वान् तोते राजा और प्रजाको अति प्रिय होते है ॥

नृवाग्विरहिता रक्ततुण्डास्त्वन्ये फलाशिनः। पापर्द्धिजनतो भीता वसन्त्यशरणा वनम् ॥४८॥

अर्थ—दूसरे लाल चोंचवाले, फलको खाने वाले, मनुष्य वाणी से रहित और शिकारीसे डरपोक तोते विना शरणके वन में वास करते है ॥ ४८ ॥

तस्यां स्थितायामित्युक्त्वा हंसराजः सबान्धवः। तत्र गत्वा स्थितो बाह्ये शुकमम्बामयाचत ॥४९॥

अर्थ—तोता तथा धारिणी परस्पर बातचीत करने लगे. इतने में भाईके साथ हंसराज वहां जाकर वहार ही खडा रहकर माता से तोते की याचना करने लगा ॥ ४९ ॥

धारिण्याह वचस्त्वेवं वत्सागच्छ गृहान्तरे। किमद्यागमनं जातं कदापि किन्न दृश्यते ॥५०॥

अर्थ—हंसराजको देखते ही धारिणीने कहा बेटा! अन्दर आजा, आज कैसे आना हुआ ! कभी नहीं दिखाई देते हो ॥

कुतोऽभ्यस्ताऽचिरेणापि निःस्नेहतेदृशी त्वया। सपत्नीजातमात्मानं साक्षाद्दर्शयसि स्वयम् ॥५१॥

अर्थ-तुमने इतनी जल्दी में निरसताका अभ्यास कहांसे कर लिया ! तुम अपने आपको ही सौतेले वता रहे हो ॥५१॥

चिरकालेऽप्सितं तेऽद्य दर्शनं येन मेऽभवत्। मद्हृदयान्तरे तेन नैव माति मुदो भरः ॥५२॥

अर्थ—तेरा दर्शन बहुत दिन से चाहती थी. परन्तु आज दर्शन हुए। तेरे दर्शन से इतना हर्ष हुआ है कि हृदय में आनंद भी नहीं समाता ॥ ५२ ॥

दिवसोऽद्यतनः शस्यो घटिकाद्यतना शुभा। यदीक्षितोऽसि नेत्राभ्यामालापितो रसज्ञया ॥५३॥

अर्थ—अहा ! आजका दिन और घडी कितनी सुन्दर है ! जिससे कि मैं अपनी आंखों से तुमको देखती हुई, जीभ से बातचीत कर रही हूं ॥ ५३ ॥

गेहमध्ये समागच्छोपविश्य श्रृणु मद्वचः । शुकमेनं करे दत्वा प्रेषय स्वसहोदरम् ॥५४॥

अर्थ—हे वत्स ! घर के अन्दर चलकर शान्ति से बैठकर मेरी बात सुन और इस तोते को भाईके हाथमें देकरके यहां से भेज दो ॥ ५४ ॥

अपूर्वामपि वार्तां कां त्वत्तातवदनश्रुताम् । एकान्ते वक्तुमिच्छामि न मे गोप्यं त्वदग्रतः ॥५५॥

अर्थ—हे सुभग ! तेरे पिताश्री के मुखारविन्द से सुनी हुई एक अद्भूत कहानी तुम को एकान्त में सुनाना चाहती हूं, क्योंकि तुमसे छिपाना नहीं है तुम मेरे अधिक प्यारे हो ॥ ५५ ॥

तेनाप्यम्बानिर्देशेन तत्तथैव कृतम्वचः । बन्धुं विसर्जयामास करे दत्वा तु तच्छुकम् ॥५६॥

अर्थ—माताकी आज्ञा मानना अपना कर्त्तव्य समझ हंसराजने वत्सराज के हाथमें शुक को देकर के विदाकर दिया । स्वयं हंसराज माताके पास खडा रहा ॥ ५६ ॥

अत्यादरेण धारिण्या नीतो हंसो गृहान्तरम् । बलाच्च निजशय्यायां प्रेम्णा समुपवेशितः ॥५७॥

अर्थ—धारिणी बडे आदर के साथ हंसराज को अपने निजी मकान में ले गई और प्रेमसे बलात्कार पूर्वक अपनी शय्या पर बैठा दिया ॥ ५७ ॥

अथाह धारिणी हंसं स्वरूपं श्रृणु हृद्गतम्। सुभग! त्वद्वियोगेन रतिर्नो मन्मनोऽन्तरे ॥५८॥

अर्थ—पलंक पर हंसराज को बैठा कर धारिणी कहने लगी, हे सुभग! मेरे हृदयकी बात तुम सुनो, तेरे वियोग से मेरे हृदय में जरा भी चेन नहीं है। मैं अपनी कथा विशेष सुनाती हूं ॥ ५८ ॥

त्वदार्तितो न मे निद्रा न घस्रे लगति क्षुधा। भूषणानि न रोचन्ते का कथागीतनृत्ययोः ॥५९॥

अर्थ—तेरे वियोग से मुझे न तो निन्द आती है, न दिनमें भूख लगती है, और न भूषण ही प्रिय लगते है। गीत और नृत्य की तो कथा ही क्या? ॥ ५९ ॥

हारो मुक्तामयो भारायतेऽङ्गारयतेऽथवा। शीतद्युतिकरौघोऽपि मदङ्गे दहनायते ॥६०॥

अर्थ—भार रहित मुक्ताहार भी वियोगके नाते गलेमें भारभूत मालूम होता है और चन्द्रमाकी परम शीतल किरणें भी अग्निके अंगारे के समान मेरे अंग को जला रही है ॥ ६० ॥

विष लेशायतेऽत्यन्तं शीतलं जात्यचंदनम्। सखीवचः सुधातुल्यमपि दुःखायते श्रुतम् ॥६१॥

अर्थ—वियोगके कारण श्रेष्ठ चन्दन भी विषके तुल्य अत्यन्त दुःखदाई, तथा अमृत तुल्य सखियों के वचन भी कानों को महा दुःखदाई प्रतीत होता है ॥ ६१ ॥

केकि-हंस-बकादीनां शुकसारिकयोरपि। मह्यं न रोचते क्रीडारसः कामरसं विना ॥६२॥

अर्थ—मुझे कामक्रीडा के विना कुछ भी प्रिय नहीं लगता, ये सामने मोर हंस, बुगला तथा तोता मैना आदि

क्रीडा कर रहे है ये भी मुझे प्रिय नहीं है ॥ ६२ ॥

वेणु वीणा पिकादीनामपि नादो न सौख्यकृत् । घनसारादयो भोगा रोगा इवारतिप्रदाः ॥६३॥

अर्थ—वियोग के हेतु वेणु, वीणा और कोयल आदि का मधूर शब्द भी नहीं सुहाता तथा कपूर केसर आदि का भोग भी विनाभोग रोग के समान अप्रिय लगता है ॥६३॥

त्वद्वियोगोद्भवो रोगस्त्वत्संभोगसुखामृतम् । विना मद्देहतो नैव शान्तिमाप्नोति सर्वथा ॥६४॥

अर्थ—तेरे वियोग से उत्पन्न रोग की शान्ति तभी हो सकती है जब कि तेरे साथ संभोग सुखरुपी अमृत हो। अन्यथा रोग अपना अड्डा जमा देगा ॥६४॥

क्रिया कार्य्याणि नश्यन्ति लज्जयालमतोऽधुना । खिद्यन्ते मम गात्राणि शीतलीकुरु मद्वपुः ॥६५॥

अर्थ—मैं कामदेवसे पीडित होनेसे कुछ भी काम नहीं कर सकती हूं, और शरीर भी बिगड रहा है। अतः लज्जा करना ठीक न समझ मैंने सब बातें कह सुनाई इसलिये मेरे शरीरमें जो खेद है उसे हटाओ और जलते हुए शरीरको शीतल करो ॥

माकार्षीः प्रार्थनाभंगं सर्वथा मा विलम्बय । नैव प्रत्युत्तरं चित्तकल्पितं दातुमर्हसि ॥६६॥

अर्थ—मेरी प्रार्थना भंग मत करो, विलम्ब न करके मेरी इच्छा पूरी करो इस विषयमें अपने मन माना उत्तर देना योग्य नहीं समझती ॥६६॥

कृतज्ञता यदा तेऽस्ति दाक्षिण्यं दक्षता दया । कामज्वराग्निसंतप्तं वपुर्निर्वापयाशु मे ॥६७॥

अर्थ—यदि तुम कृतज्ञ, चतुर, दक्ष और दयाशील हो तो कामज्वरसे संतप्त मेरे शरीर को शीतल करो। इसमें विलम्ब करना उचित नहीं। अन्यथा शरीर जलकर भस्म हो जायगा। फिर पश्चात्ताप ही शेष रह जायगा ॥६७॥

कुमारश्चिन्तयामास तथ्यमेतद्वचः कवेः। अकार्य्यमपि कुर्वन्ति स्त्रियो मदनविह्वलाः ॥६८॥

अर्थ—हंसराज कुमार सारी बातें सुन मन ही मन चिन्तवन करने लगा अहो! कवियोंने सत्य ही कहा है कि कामदेव के पांचों बाणों से विदग्ध स्त्रीयां क्या क्या अनर्थ नहीं करती है? जैसे नशे में चूर व्यक्ति बोलना, खानापीना इत्यादि सब भूल बैठता है उसी तरह कामदेव से पागल स्त्री अपने कर्त्तव्य से परिभ्रष्ट बन जाती है ॥६८॥

कामातुराश्च कामिन्यः पितरं सोदरं सुतम्। देवरं वरमात्मीयमपि घ्नन्तीति नान्तृतम् ॥६९॥

अर्थ—कामदेव से पीडित जो स्त्रीयें है उनकी विचारधारा नष्ट प्रायः है क्योंकि कामदेव से व्याकुल स्त्री अपने पिता भाई, बेटा तथा देवर आदि परिवारको भी मारने के लिये तैयार हो जाती है ॥६९॥

स्त्रियोऽनृतादिचापल्यमायाजाड्यातिलोभतः। निर्लज्जतादिदोषाणां भूमयश्च बुधैः स्मृताः ॥७०॥

अर्थ—कामवासना से वासित स्त्रियां मिथ्या, चञ्चलता, माया, जडता और लोभ द्वारा निर्लज्जतादि दोषों का पात्र बन जाती है। लज्जा का भंडार रहती हुई भी स्त्रियां मिथ्यात्व प्रपंच में फंसकर हावभावके साथ निर्लज्ज बन बैठती है॥

युगान्तेऽपि न कुर्वेऽहमकृत्यं नरकप्रदम्। क्षणार्द्धमपि न स्थेयं मया दुश्चारिणी गृहे ॥७१॥

अर्थ—कुमार सोचता है कि यदि युग का अन्त भी हो जाय तो भी नरकको देनेवाला अकर्त्तव्य कर्म कभी नहीं

करुंगा। इस दुराचरणी के घरमें आधा क्षण भी ठहरना उचित नहीं ॥७१॥

दत्त्वोत्तरमहं यामि शिवं मे नात्र तस्थुषः। इत्यालोच्य कुमारस्तामवादीत्पापभीरुकः ॥७२॥

अर्थ—परन्तु क्या किया जाय! अब तो उत्तर देकर ही जाउगा यहां रहनेमें भी मेरा कल्याण नही है, ऐसा विचार कर पापसे डरपोक कुमारने अपनी विमाता को कहना शुरु किया ॥७२॥

अविमृश्य वचोऽवाच्य कथमुक्तं रसज्ञया। आ! ज्ञातमनघे! हेमवत्त्वयाहं परीक्षितः ॥७३॥

अर्थ—अहा! हे अम्ब! विना विचारे इस जीभसे ऐसी अवाच्य बातें कैसे बोली गई? अथवा हे अनघे! अब मैंने जान लिया कि तुमने सोनेकी तरह मेरी परीक्षा की है ॥७३॥

माता त्वं तनयस्तेऽहं मत्तः किं स्यादकृत्यता। पालनीयं सदा साध्व्या शीलं चन्द्रकरोज्वलम् ॥७४॥

अर्थ—तूं मेरी माता हो और मैं तेरा बेटा हूं मेरे से क्या ऐसा अकृत्य कार्य होगा! नहीं, कभी नहीं। और तुमारे जैसी माता व पतिव्रता स्त्रीको भी चाहिये कि चन्द्रमा के किरण के समान उज्ज्जवल शील की हमेशा रक्षा करें ॥७४॥

इन्दुकुन्दतुषाराभं यशः शीलाच्च जायते। पक्षपातकरा देवा अपि स्युः शीलसेविनाम् ॥७५॥

अर्थ—चूंकि इस शीलसे चन्द्रमा, कुन्द और तुषार के समान उज्ज्वल यश चारों दिशाओंमें फैलता है और ब्रह्मचर्य पालन करनेवाले को देवता भी सहाय करते है ॥७५॥

स्वर्गापवर्गयोः प्राप्तिर्न दूरे शुद्धचेतसाम्। अतो नरेण नार्या च शीलनीयमदोव्रतम् ॥७६॥

अर्थ—शुद्ध मनसे शील की रक्षा करने वालों के लिये स्वर्ग तथा मोक्ष दूर नहीं हैं अतएव प्राणीमात्र को चाहिये कि शुद्ध ब्रह्मचर्यका पालन करें ॥७६॥

एकदा शीलमाहात्म्यमाकर्णय मदाननात्। परस्त्रीसङ्गकरणाद् रावणोऽपि क्षयं गतः ॥७७॥

अर्थ—हे अम्ब! एक वक्त मेरे मुखसे शीलका माहात्म्य सुनो। परस्त्रीयों के साथ विषयवासना की दृष्टि से स्पर्श करना भी महा घातक है, जैसे सीताके स्पर्श मात्रसे ही रावणकी मृत्यु हुई ॥७७॥

जज्ञे सुदर्शनस्यापि परस्त्रीविरतिव्रतात्। शूलिकैवासनं ख्याता कथेयं त्रिजगत्यपि ॥७८॥

अर्थ—परस्त्री निषेध के नियमसे सुदर्शन को शूलीका आसन बन गया यह कथा तीनों जगतमें विख्यात है ॥७८॥

इत्युक्त्वा तं कुमारे नु स्थिते धारिण्यवीवदत्। बिभ्राणा स्वाशये कोपं प्रसन्ना वदने भृशम् ॥७९॥

अर्थ—कुमार के सुवाक्य सुनकर धारिणी अन्दर ही अन्दर क्रोध से जलती हुई तथा उपरसे मुखमुद्रा प्रसन्न रखकर कुमार को कहने लगी ॥७९॥

कुमार! सुन्दराकार! परयोषित्सहोदर!। त्वया तत्त्वोपदेशेन निषिद्धा पापकर्मणः ॥८०॥

अर्थ—हे कुमार! हे सुन्दराकार! हे परस्त्रीयोंके सग्गे भाइ! तुमने सुन्दर तत्त्वका उपदेश देकरके मुझे पापकर्मसे बचा दी॥

धन्यस्त्वं ते पिता धन्यो माता च तव रत्नसूः। बाल्ये वयसि वार्धक्योचितेदृग् यस्य ते मतिः ॥८१॥

अर्थ—हे कुमार! तुम धन्य हो तुम्हारे पिताश्री और माता भी धन्य है जिन्होंने तुम्हारे जैसे पुत्ररत्न को जन्म

दिया। बाल्य अवस्थामें भी तुम्हारी बुद्धि बुढापे के योग्य काम कर रही है। धन्य है तुझको। और तुम्हारी बुद्धिको ॥८१

न केवलं त्वया चक्रे कुलं चन्द्रोज्वलं निजम्। परोपकारधौरेय! ममापि विमलीकृतम् ॥८२॥

अर्थ—हे परोपकारधोरि! तुमने केवल अपने कुलको ही चन्द्र समान उज्वल बनाया ऐसी बात नही, साथ ही साथ मुझे भी निर्मल बना दी ॥८२॥

मदाशिषा चिरं जीव चिरं नन्द धियां निधे!। पितृदत्तं महाराज्य मुपभुंक्ष्व सबान्धवः ॥८३॥

अर्थ—बेटा! मेरे आशीर्वाद से खुब जीवो, खुब वृद्धि करो। हे बुद्धिका खजाना! तुम भाइके साथ पिताजी से दिये हुए राज्यका खुब उपभोग करो ॥८३॥

त्वं विक्रमीभव भुवोम्बुधि मेखलायाः ईशो भव प्रबलभाग्यभराभिरामः।
उष्णांशुवत्प्रतिदिनं प्रबलप्रतापो दीर्घायुरस्तु विदुषामभिनन्दनीयः ॥८४॥

अर्थ—तूं महा पराक्रमी हो, समुद्र की मेखला तक पृथिवीका स्वामी हो, और प्रबल भाग्यसे सम्पन्न हो, तेरा प्रताप सूर्यकी तरह दिनानुदिन भूतलमें बढता रहो, चिरायु हो और पण्डितोंसे प्रशंसनीय हो, ये मेरा शुभ आशीर्वाद है ॥८४॥

इत्याशिषाश्रवणगोचरतां विधाय विमातृचरणावथ मातरं स्वाम्।
उक्त्वेतिमद्वचनजस्त्वपराधलेशः सह्यस्त्वयान्नृपसुतः स्वगृहं जगाम ॥८५॥

अर्थ—इस प्रकार विमातु का आशीर्वाद पाकर विमाता के चरणकमलमें शिर झुकाकर प्रणामपूर्वक कुमारने कहा कि

हे मात ! जो कुछ मेरा अपराध हुआ हो उसे क्षमा करना मैं अब जाता हूं. एसा कह कर अपनी दिवंगत मातुका स्मरण करता हुआ राजकुमार हंसराज अपने घर लोट गया ॥८५॥

इति श्री हंसराज वत्सराज कथायां धारिणी प्रबोधो नाम द्वितीयो विश्रामः ॥

श्री हिमाचलान्तेवासि–मुमुक्षु भव्यानंदविजय कृत हिन्दी भापानुवाद श्री हंसराज वत्सराज कथान्तर्गत धारिणी प्रबोध नामक दूसरा सर्ग समाप्त हुआ ।

इति द्वितीयः सर्गः

॥ अथ तृतीयः सर्गः ॥

इतश्च नृपते जीया स्मृत्वाऽकृत्यं स्वकंमहत्। एवं विचिन्तयामास निजे मनसिशङ्किता ॥१॥

अर्थ—इधर हंसराज के जाने पर अपने मनमें शंका करती हुई राणी धारिणीने किये हुए अकर्त्तव्य के उपर गाढ विचार करना शुरु किया ॥ १ ॥

पुराऽपि भूपतेर्नेष्टा ततोऽपि चेत्कलङ्किता। तदाहं कस्यशरणं याम्यनाथातिदुर्भगा ॥२॥

अर्थ—हा देव! पहले भी मै राजा को अप्रियथी उसके बाद कलंकित हो गई. अब मै अभागिनि निराश्रित होकर किस की शरणमें जाउं! ॥ २ ॥

दुर्वृत्तं न नृपो वेत्ति शृणोति यावता न मे। तावता तन्मया कार्य्यं यद्वैरिघ्नं यशस्करम् ॥३॥

अर्थ—मेरे दुर्व्यवहार को राजाने जब तक नही जाना है अथवा नही सुना है. तब तक अन्दर में ही शत्रुनाशक और यशस्कर कार्य कर लूं ॥ ३ ॥

अङ्गं विदारयामास तस्मिन्नेव क्षणेऽसती। कुत्सितं रूपमाधाय विहायाभरणानि च ॥४॥

अर्थ—उसी समय अविचारिणी धारिणीने अपने शरीर के प्रत्येक अङ्ग को फाडचीर दिया. और अपने जेवर आदि को भी उतारकर विचित्र रूप बना लिया ॥ ४ ॥

नृपोप्याकस्मिकश्चागात्तत्स्वरूपं निशम्य च। तेनाप्यपृच्छितद्दुःखकारणं दयितान्तिके ॥५॥

अर्थ—धारिणीने अपने शरीर को विदारण किया है ऐस सुन अकस्मात् उसी समय राजा रानीके–पास आ पहुंचा। रानी के कुरूप को देख राजाने रानीके दुःखका कारण पूछा ॥ ५ ॥

नो वक्ति नोत्तरं दत्ते पृच्छ्यमाना नृपेण सा । तावतोचे पुनर्जायां मानं मुञ्च मनस्विनि ? ॥६॥

अर्थ—राजा के पूछने पर भी रानीने कुछ भी उतर नहीं दिया और मौन होकर के बैठ गई, तब राजाने पुनः कहा कि हे मनस्विनि ! मानको छोड और बोल क्या कारण है ! ॥ ६ ॥

केनापराधिताऽसित्वं कथं दूना मनोऽन्तरे । अवस्थेयं कथन्तेऽद्य मयि जीवति भर्त्तरि ॥७॥

अर्थ—किसीने तेरा अपमान किया है ! अथवा तेरे मन में कोई चिन्ता है ! क्यों मन ही मन पीडा का अनुभव करती हो ! मेरे जिन्दे रहते हुए आज तेरी ऐसी दशा क्यों ! ॥ ७ ॥

साप्यवोचत् कथङ्कारं भूपतिं कुटिलाशया । त्रपानम्राननाऽत्यन्तं गद्गदाक्षरपूर्वकम् ॥८॥

अर्थ—राजा के वचन सुन कर धारिणीने किसी भी प्रकार से लज्जावश मुखको नीचा करके कुटिल हृदय पूर्वक गद् गद् वाणी से राजाको कहना शुरु किया ॥ ८ ॥

नाथ ! जिह्वेमि किं वच्मि नैव शक्नौमि जल्पितुम् । दुर्वृत्तं वचनातीतं रसज्ञया मदीयया ॥९॥

अर्थ—हे नाथ ! मुझे बोलते शर्म आती है कि कैसे बोलुं ! नहीं बोल सकती । क्योंकि मैं अपनी जीभ से अकथनीय–दुर्व्यवहार कैसे कहूं ! ॥ ९ ॥

यदि वा ते पुरो वच्मि नास्ति कथयिताऽपरः। व्रीडया स्वार्थहानिः स्यादतोऽलं व्रीडयाऽनया ॥१०॥

अर्थ—यद्यपि आपको कहने में संकोच नहीं है क्योंकि कोई दूसरा सुनता नही हे अगर लज्जा रख बैठुं तो स्वार्थकी हानि होती है इस लिये लज्जा छोडना ही उचित समझती हूं ॥ १० ॥

त्वयि जीवति जीवेश! चेन्मे विडम्बनेदृशी। पश्चात्किं भावि नो जाने राज्यं कुर्वति त्वत्सुते ॥११॥

अर्थ—हे प्राणनाथ! आपके जिवित रहने पर भी एसी विडम्बना होती है तो जब आपके लडके राज्य करेंगे तब मेरी क्या दशा होगी! ॥ ११ ॥

तेनोचेऽद्यापि नो वेद्मि त्वद्भावं गूढमान्तरम्। अतः पटुतरं ब्रुहि भर्तुः किंस्यात्स्त्रियस्त्रपा ॥१२॥

अर्थ—राजाने रानी से कहा कि तेरे गुप्त भाव को मैं नहीं समझा. इस लिये स्पष्टतया–खुल्ला बोलो, स्वामी के पास स्त्री को शर्म क्या होती है! ॥ १२ ॥

यद्येवंतर्हि ते सूनोश्चरित्रमवधारय। हंसराजः सबन्धुःसन् याचते सुरतं हि माम् ॥१३॥

अर्थ—यदि आप की ऐसी ही आज्ञा है तो आपके दोनों पुत्रों का चरित्र सुनिये। वत्सराज सहित हंसराज मेरे साथ भोग चाहता है ॥ १३ ॥

अद्यमद्गेह मायातः शुकस्याऽनयनच्छलात्। तववृद्धतनूजस्तु भ्रात्रा सह दुराशयः ॥१४॥

अर्थ—आज आपके दुराचारी बेटा हंसराज भाईके साथ तोता को लेजाने के छल से मेरे घर पर आया था ॥१४॥

तव पुत्रो लघुस्तस्थौ बहिरालोकनाय च । अग्रजो मम शय्याया मुपविष्टो भयोज्झितः ॥१५॥
त्यक्त्वा लज्जां स मामाह ममैकवचनम्प्रिये ? । तवापीष्टं ममाभीष्टं नान्यथा कर्तुमर्हसि ॥१६॥

अर्थ—आपका छोटा लडका बहार देखने के लिये खडा था और बडाबेटा निर्भीक होकर के मेरे पलंक पर आकर के बैठ गया ॥ १५ ॥

शय्या पर बैठने के बाद शर्म छोड बोला–हे प्रिये ! जो मैं तुम से चाहता हूं–वो तुम को भी प्रिय ही होगा, अत एव मेरी बात मान लो ॥ १६ ॥

त्वदीय मोहनसुधां देवानामपि दुर्लभाम् । यथेच्छम्पातु मिच्छामि स्मरतापोपशान्तये ॥१७॥

अर्थ—हे प्रियतमे ! मैं कामज्वर से मर रहा हूं. इस ज्वर की शान्ति के लिये तेरी अधर सुधा का पान के सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं है. मोहने वाली तेरी अधर सुधा को देवता भी नहीं पा सकते । इस लिये अपने कामरूपी तापको मिटाने के लिये तेरी अधर सुधा को पीना चाहता हुं ॥ १७ ॥

इत्युक्त्वा वार्यमाणोऽपि मदान्धस्ते सुतोऽग्रजः । भृशं कदर्थयामास विविधैर्मां विगोपनैः ॥१८॥

अर्थ—ऐसा कह करके मदान्ध तेरे बडे लडकेने, मेरे बहुत कुछ निषेध करने पर भी अनेक प्रपंच द्वारा मेरी दुर्दशा कर दी ॥ १८ ॥

नखै विंपाटयामास मद्देहं कदली मृदु । मद् भूषणानि तेनैव चूर्णितानि त्वतिक्रुधा ॥१९॥

अर्थ—मेरे मना करनेसे अत्यन्त क्रोध युक्त होकर आपके दुराचारी वेटेने कदली स्तम्भ के समान मेरे कोमल शरीर को नखद्वारा क्षतमय कर दिया, और जेवर को भी छिन्नभिन्न कर दिया ॥ १९ ॥

तस्मिन्नवसरे यानि वाक्यान्युक्तानि कामिना । वचांसि तानि नो वक्तुं शक्यन्ते लज्जया मया ॥२०॥

अर्थ—उस समय उस कामीने जो वचन कहे हैं वे लज्जावश मैं आपको नही कह सकती ॥ २० ॥

क्षीराम्भोनिधि फेनौघोज्वलं मच्छीलमाशये। ज्ञात्वाभ्यां वाच्य मन्यत्रैतन्नेत्युक्त्वा गृहे गतम् ॥२१॥

अर्थ—मेरे हृदय में क्षीर सागर के फैन के समान उज्वल शील को समझ कर, अपने घर जाते समय दुष्ट दोनोंने कहाकि अन्यत्र नही बोलना चाहिये ॥ २१ ॥

तथा तवाङ्गजावुच्छृंखलौ जातौ तु निस्त्रपौ । यथा मामिच्छतः कामयितुमन्यत्किमुच्यते ॥२२॥

अर्थ—आपके दोनों लडके उद्दंड और निर्लज हो चूके है जैसे कि मेरे साथ भी दुर्व्यवहार करना चाहते है तो अन्यत्र की तो वात ही क्या ! ॥ २२ ॥

अवाच्यापि पुरावार्ता पुरस्तव निवेदिता। यदुक्तं स्याद्विधेयं तत्त्याज्याविमृश्य कारिता ॥२३॥

अर्थ—आपके पास नही कहने योग्य भी वार्ते मैंने कह सुनाई, अब जो उचित समझें वैसा करें परन्तु इसमें विचार करने का समय नहीं ॥ २३ ॥

मतिमानायतिज्ञोऽसि नीतिविच्छास्त्रकोविदः। सर्वथा सर्वदर्शीत्वं बाह्याभ्यन्तरदृष्टिभिः ॥२४॥

अर्थ—हे नाथ ! आप बुद्धिमान हो, भविष्य का जानकर हो. न्याय सम्पन्न हो. पण्डित हो. सर्वदर्शी हो, और बाहर तथा भीतर दृष्टि वाले हो, आप को मैं विशेष क्या कहूं ? ॥ २४ ॥

आकारगोपनं कृत्वा नृपोऽप्याचष्ट ताम्प्रति। स्थिरीभवोत्सुकत्वेन साध्यसिद्धिर्न जायते ॥२५॥

अर्थ—रानी की बात को छिपाकर राजाने कहा—हे प्रिये ? धैर्य धारण करो. जल्दी बाजी से काम नहीं होता है. स्थिरता से सब कुछ सिद्ध हो जायगा ॥ २५ ॥

आम्रेडितं वचस्तस्याः श्रुत्वा तद्देह चेष्टितम्। दृष्ट्वा धुन्वन् शिरोभूयो निजावासं समासदत् ॥२६॥

अर्थ—इस प्रकार शान्त्वना देनेपर भी रानी शान्त न होकरके पुनः पुनः कहती हुईका वचन सुन, एवं रानीकी विचित्र चेष्टाको देख, राजा अपने शिरको—हिलाता हुआ अपने राजमहल में चला गया ॥ २६ ॥

तत्र गत्वा च विश्रम्य यशोधवल मंत्रिणम्। आहूयेत्यादिदेशेलापति रुत्कटकोपयुक् ॥२७॥

अर्थ—महलमें जाते ही क्रोधसे तपे हुए भूपतिने यशोधवल नामक मंत्रीको बुलाकर—अपना हुक्म सुनाना शुरू किया॥

मंत्रिन्! मत्पुत्रयोः शीर्षं लुनीहि मा विलम्बय। सामदामादिभेदेन बुद्ध्या खड्गबलेन च ॥२८॥

अर्थ—हे मंत्रिन् ! साम दाम आदि के भेद से, तथा खड्ग या बुद्धिके द्वारा अथवा किसी भी उपाय से मेरे दोनों बेटों को कत्ल करदो, इस में देरी मत करो. वरना ठीक नहीं होगा ॥ २८ ॥

अनयोश्चरितं श्रोतुं भाषितुं केन शक्यते। शल्ययोर्मम नेत्रस्य कलंकीरूपयोर्मम ॥२९॥

अर्थ—मेरी आखके शल्य रूप तथा कलंकीरूप दोनोंके चरित्रको कौन—बोल सकता है! और कौन सुन सकता है?॥२९॥

अनयो वीर्त्तया नाम्ना दक्षत्वेन धियाप्यलम्। नामापि खलु पापाना मयशस्कार्यसौख्यदम् ॥३०॥

अर्थ—मन से भी इन दोनो की बात करने से, तथा नाम लेने से, होशियारीपणे से, तथा इनकी बुद्धि से काम लेना योग्य नही। चूंकि पापियो का नाम लेना भी अकल्याणकारी तथा अयशकारी हुआ करना है ॥ ३० ॥

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ हे मन्त्रि न्नुत्सूरमथ जायते। गच्छत्वं त्वरितं गेहे सामग्रीं तूचितां कुरु ॥३१॥

अर्थ—हे मंत्रिराज! सांझ होने जा रही है, उठिये जल्दी उठिये और शीघ्र अपने घर जाकर के योग्य सामग्री तैयार कीजिये ॥ ३१ ॥

प्रेषयिष्यामि संध्यायां त्वद्गेहे पुत्रयोर्युगम्। मनोऽभिलषितं कार्य्यं साधनीयं त्वया मम ॥३२॥

अर्थ—साझ होते ही दोनों लडको को आप के घर भेज दूंगा, फिर आप मेरे मनोरथ को अवश्य पूरा कर देना ॥३२॥

त्वां विनाऽन्येन केनापि कार्यमेतन्न साध्यते। यतोऽसि जीवितं त्वं मे राज्यावष्टम्भदायकः ॥३३॥

अर्थ—आपके विना दूसरा कोई इस कार्य को सिद्ध नही कर सकता है, आप मेरे जीवन हो, तथा राज्य के थम्भा देने वाले हो, अर्थात् यह मेरा जीवन और और यह राज्य आप के उपर ही आश्रित है ॥ ३३ ॥

मंत्रिणाऽचिन्ति चित्ते च किं विधेयं मयाधुना। एकतो नृपशिक्षेय मीदृशी बलवत्तरा ॥३४॥

अन्यतो दुर्जयौ वीरौ कुमारौ मन्मथाकृती। द्विधा सकटमायातश्चाग्रेऽहिः पृष्ठतः सरित् ॥३५॥

अर्थ—राजा के वचन सुन मंत्री मन ही मन सोचने लगा कि अब मुझे क्या करना चाहिये, चूंकि एकतरफ से तो राजा की शिक्षा बलवती है और उधर कामदेव के समान सुन्दर, पराक्रमी, अजेय, राजकुमार है। दोनों तरफ संकट ही संकट दिखाई देरहा है. जैसे कि आगे सर्प और पीछे नदी ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

तथाप्यस्तु नृपस्याज्ञा मारोप्य शिरसि स्वके। गृहे यामि पुनः कालोचितं कर्तास्मि कालवित् ॥३६॥

अर्थ—अस्तु अभी तो राजाकी आज्ञाको शिरोधार्य करलूँ. फिर घरजानेके बाद जैसा भी सयम होगा वैसा काम करुंगा॥

इत्यालोच्यावदन्मन्त्री स्वामिन्! यद्यपि दुष्करः। तवादेशस्तथाप्यहं: कर्तुं मयानुजीविना ॥३७॥

अर्थ—ऐसा सोच कर मंत्रीने कहाकिराजन्! यह कार्य कठिन साध्य है—फिर भी यह सेवक स्वामी की आज्ञा को पालन करने लिये तैयार है ॥ ३७ ॥

इत्युक्ते मुदितः क्ष्मापो दत्वा प्रवर वाजिनम्। मन्त्रिणं प्राहिणोद्धाम्नि राजनीतिविशारदम् ॥३८॥

अर्थ—ऐसे मंत्रीके वचन सुन हर्षित हृदयसे राजाने सुन्दर घोडा देकरके राजनीतिमें चतुर मंत्रीको अपने घर भेज दिया॥

निजौकसि गतो मंत्री सस्मार कुल देवताम्। किं कर्तव्यं मया देवि! नृपादेशस्तु दुष्करः ॥३९॥

अर्थ—मंत्री अपने घर जाते ही कुल देवता को स्मरण कर बोला—हे देवी! राजा का आदेश दुसाध्य है, इस में मुझे क्या करना चाहिये! ॥ ३९ ॥

देवताप्याह सद्बुद्धे! चिन्तां मा कुरु सर्वथा। माभैषीरुभयो र्वाजि द्वयं दत्वा विसर्जय ॥४०॥

अर्थ—मंत्री की प्रार्थना सुन देवताने कहा, हे मतिमान् ! कोई बात की चिन्ता तथा डर मत करो, एक एक घोडा दोनों को देकर देश से बहार भेज दो ॥ ४० ॥

त्वया नृपाल भेतव्यं तव प्रत्यूह वारिणी । अहमस्मि परं कार्य्या त्वया धर्मोद्यमे रतिः ॥४१॥

अर्थ—तुम राजा से भी मत डरो तेरे विघ्नको मैं सर्वथा निवारण करदूंगी. तुम तो केवल धर्म में अनुराग करते रहना ॥४१॥

इत्यादिश्य गता देवी सुप्रसन्न स्ततस्सुधीः । बुभुजे च कृतस्नानः पूतः सत्पात्र दानतः ॥४२॥

अर्थ—ऐसा आशीर्वाद देकर देवी अदृश्य हो गई. देवी की वाणी से प्रसन्न होकर के मंत्री ने नहा धोकर पवित्रताके साथ सत्पात्र में दान पूर्वक भोजन किया ॥ ४२ ॥

अत्रान्तरे नृपादेशात्तत्सुतौ तमुपेयतुः । ऊचतु र्जनकेनावां प्रेषितौ स्तस्त्वदन्तिके ॥४३॥

अर्थ—इसी बीचमे राजाकी आज्ञा के अनुसार दोनों भाई मंत्रीके घर पहुंचते ही मंत्रीको कहने लगे. आपके पास पिताश्रीने हम दोनोको भेजे है ॥ ४३ ॥

यादृशे तादृशे कार्य्ये दुष्करे सुकरेऽपि वा । विनिर्जित सुराचार्य ! यच्छादेशं यदृच्छया ॥४४॥

अर्थ—बृहस्पतिराज ! आप अपनी इच्छाके अनुसार असाध्य या साध्य जेसा जो कुछ कार्य हो. आज्ञा फरमावें ॥४४॥

उवाच मंत्री हे वत्सौ ! किं किङ्कर करोम्यहम् । नित्यं परानन्नप्रेक्षी पराधीनोऽस्मि सर्वदा ॥४५॥

अर्थ—कुमारोके वचन सुनकर मंत्रीने कहा हे कुमारो ! मैं सेवक हूं. क्या करुं ? हमेशां ही पराधीन हूं और दूसरेका

मुख देखता रहता हूं ॥ ४५ ॥

इतोऽकिञ्चनतां मन्ये वरं न त्वनुजीविताम्। सर्वं निष्पद्यते कार्यं मेकमेवावशिष्यते ॥४६॥

अर्थ—मैं इससे अकिंचनता (धन धान्य एवं कुटुम्ब परिवारसे रहित रहना) श्रेष्ठ मानता हूं, परन्तु सेवक पनाको नहीं। क्यों कि राजाने कहा कि हे मंत्रिन्! सब काम होगया लेकिन एक रहा है वह मैं एकान्त में कहूंगा ॥ ४६ ॥

नरेशेनेतिगदितं कल्ये रहसि मां प्रति। प्रेषयिष्यामि त्वद्गेहे संध्यायां तनुजद्वयम् ॥४७॥

अर्थ—मुझे एकान्तमें लेजाकर राजाने कहा कि संध्यामें मैं अपने लडकोंको आप के घर भेज दुंगा ॥ ४७ ॥

निर्विकल्पेन चित्तेन छेद्ये शीर्षंत्वयाऽनयोः। निःसत्वेन मयाऽतङ्कात्तद्वचोऽङ्गीकृतं तदा ॥४८॥

अर्थ—आप बिना बिचारेही दोनों का माथा उतार देना, राजाकी इस आज्ञासे मैं डरा, परन्तु क्या कर सकता था? आखिर स्वीकार करनी पडी ॥ ४८ ॥

किं विधेयं मयेदानीं मम शिक्षा प्रदीयताम्। एकतोऽयं नृपादेशो राज्यार्हौ त्वन्यतो युवाम् ॥४९॥

अर्थ—हे कुमारों! एक तरफ राजाकी तीव्र आज्ञा, और एक तरफ तुम्हारी योग्यता दोनोंही अकाट्य है। इस में आप ही सीखाईये कि मैं क्या करुं? ॥ ४९ ॥

इत्यमात्य वचः प्रान्ते तौ द्वावपि तदोचतुः। अद्यापि कथमालस्यं स्वामिकार्य्यं विधीयते ॥५०॥

अर्थ—मंत्रीकी बात सुनते ही कुमार कहने लगे, हे मंत्रिराज! स्वामीके कार्य में विलम्ब न, करके जल्दी स्वामीकी

आज्ञा पूरी कीजिये ॥ ५० ॥

भृत्यः स एव यः स्वामिकार्यनिष्पादनक्षमः। नाममात्रधराश्चान्ये कुक्षिपूरणतत्पराः ॥५१॥

अर्थ—नोकर वही है जो कि स्वामीके कार्य करनेमें हमेशां तत्पर रहता है। दूसरे तो केवल नामधारी अपने उदर भरने वाले ही है ॥ ५१ ॥

यदीच्छसि कुटुम्बस्य स्वस्यापि जीवितस्य च। स्वाधिकारस्य कल्याणं तदा त्वं मा विलम्बय ॥५२॥

अर्थ—यदि आप अपने परिवारका, अपने जीवनका, और अपने अधिकारीपदका भला चाहते होतो विलम्ब मत कीजिये ॥

जनकाज्ञाकरावावामभूवं सत्वसेवधी। आजन्माप्यङ्करहितावुपकारिशिरोमणी ॥५३॥

अर्थ—आजन्मपापसे रहित, उपकारीमें मुकुट समान, साहसके खजानेरूप, हम दोनों भाई पिताश्रीके बडे आज्ञाकारी थे ॥

अवश्यं भाविनो मृत्योर्नास्त्येव भयमावयोः। अतः कृत्वा नृपादेशं कुरु स्वजीवितावनम् ॥५४॥

अर्थ—जन्म लिये हुए की मृत्यु नियत ही है लेकिन हम दोनों उससे डरते भी नहीं है, अतः आप राजाके आदेश को पालन कर अपने जीवन की रक्षा कीजिये ॥ ५४ ॥

राजानः कस्य नात्मीया जानीहीति मनोऽन्तरे। विदित्वेत्थं निजस्वार्थसाधने तत्परो भव ॥५५॥

अर्थ—राजा किसीका मित्र नहीं होता है ऐसा मन में जान बूझ करके अपने स्वार्थसाधन में लग जाईये ॥ ५५ ॥

असिमादाय वेगेन शिरश्छिध्यावयोस्ततः। सुखं जीव निजामात्यपदं भुंक्ष्व चिरादपि ॥५६॥

मंत्रिणावादि हे पुत्रौ ! युवां मदङ्कलालितौ। जीविताभिमतावध्यापितौ बहुविधाः कलाः ॥५७॥

अर्थ—मंत्रिन् ! तलवार लेकर जल्दीसे हम दोनों के शिर काट दो, तुम सुख पूर्वक जीवो, और बहुत काल तक अपने मंत्रीपद का उपभोग करो ॥ ५६ ॥ कुमार के वचन सुन मंत्रीने कहा, बेटा ! तुम दोनों को अपने गोदमें लालन पालन कर जीवन के प्रिय बनाये, और अनेक कला में भी कुशल बनाये ॥ ५७ ॥

युवयोरशुभं कर्तुं शक्यते नैव कर्हिचित्। युगान्तेऽपि मया वक्तुं मारणस्य तु का कथा ॥५८॥

निधनस्य कथां कर्तुं नोचिता युवयोरपि। यतो जीवन्नरः पश्येत् कल्याणानि च भूरीशः ॥ ५९ ॥

अर्थ—इसलिये युगका अन्त भी हो जाय फिरभी मैं तुम्हारा अनिष्ट नहीं कर सकता, और न कुछ बोल ही सकता, फिर मारने की बातका तो कहना ही क्या ? ॥ ५८ ॥ हे कुमार ! तुम्हारे मुख से भी मरण की बात करना समुचित नहीं, चूंकि जीवित प्राणी बहुत कल्याण को देख सकता है ॥ ५९ ॥

विद्यमानः पुमान् सम्पज्जायासंततिजं सुखम्। आप्नुते चिनुते पुण्यं वैरिणं पश्यति क्षयम् ॥६०॥

अर्थ—जीन्दा हुआ मनुष्य धन पत्नी और संतति जन्य सुख प्राप्त करता है, पुण्य उपार्जन करता है और शत्रुका भी क्षय देखता है, अतः तुम मत मरो ॥ ६० ॥

परिधानोचितं वासः पाथेयं तुरगद्वयम्। अन्यदप्युचितं वस्तु गृहीत्वा गच्छतं युवाम् ॥ ६१ ॥

अर्थ—पहरने ओढने के उचित कपडे कलेवा दो घोडे और भी आवश्यक चीजें लेकर तुम दोनों भाई देशान्तर चले जाओ॥

अमुं देशं परित्यज्य विदेशे भ्रमतं द्रुतम् । विदेशभ्रमणं पुंसां न निषिद्धं विपश्चिता ॥ ६२ ॥

अर्थ—पण्डितो ने पुरुषो को विदेश गमन का निषेद्ध नहीं किया है । अतः इस देश को छोडकर विदेशमें भ्रमण करो ॥

मित्रामित्रान्तरं वेत्ति निजभाग्यपरीक्षणम् । लभते भ्रममाणः स्याद् विदेशेन विचक्षणः ॥ ६३ ॥

ओमित्युक्त्वाऽततुस्तौ तु निःसहायौ ससम्बलौ । स्मरन्तौ मंत्रिवात्सल्यं जनकाकारणारिताम् ॥६४॥

अर्थ—देशाटन से शत्रु मित्र का परिचय होता है, अपने भाग्य की परीक्षा होती है और चतुराई प्राप्त होती है, इसलिये विदेशयात्रा अवश्य कल्याण प्रद होगा ॥६३॥ मंत्री के वचन सुन कर के सफर की उपयोगीचीजें लेकर पिताकी अकारण शत्रुता तथा मत्रीकी वात्सल्यता को स्मरण करते हुए दोनों निःसहाय निकल पडे ॥ ६४ ॥

इतश्चार्द्धतमस्विन्यां सचिवोऽगान्नृपान्तिकम् । इति विज्ञापयामास किं विधेयं मया विभो ! ॥६५॥

यावता खड्गमादाय शिरच्छेदं कुमारयोः । करोमि तावताऽगादम्बरे च गोत्रदेवता ॥ ६६ ॥

ममाह गोत्रजा मंत्रिन्नेतयोश्चेद्धनिष्यसि । पुत्रपौत्रान्वितं त्वां तु निहनिष्याम्यसंशयम् ॥६७॥

अर्थ—राजकुमार के चले जाने पर मंत्रीने आधी रात में ही राजा के पास जाकर के कहा कि हे स्वामिन् ? मुझे क्या करना चाहिये ? ॥६५॥ क्योंकि-जब मै तलवार लेकर दोनों कुमार के शिर काटने के लिये तैयार हुआ. इतने में आकाश से गोत्रदेवी आकर के मुझे कहने लगी कि हे मन्त्रिन् ! यदि तूं इन दोनो को मार देगा तो मैं पुत्र पौत्र सहित तुमको निश्चय ही मार डालूंगी ॥ ६६ ॥ ६७ ॥

गृहान्निष्कासयेदानीं दत्वैतयोर्हयद्वयम् । लक्षमूल्यान्वितं सद्यः शयनीयं ततस्त्वया ॥ ६८ ॥
चिंतां कामपि मा कार्षी मा शंकिष्ठा नरेशतः । मदादेशः कृतस्तुभ्यमपि राज्ञे जयप्रदः ॥ ६९ ॥

अर्थ—लाख लाख रूपये वाला दो घोडे दोनों कुमार को देकर के इसी समय घरसे बहार निकाल दो । उनके बाद तुम सो जाओ ॥६८॥ और कहा कि–हे सचिव ! तूं चिन्ता मत करना॰ और राजाका भी भय मत रखना । क्योंकि मेरे आदेश के अनुसार कार्य करना तुम्हारा तथा राजा का कल्याण होगा ॥ ६९ ॥

चेदन्यथा मदादेशं करिष्यसि विधेर्वशात् । ज्ञास्यसि त्वं नरेशोऽपि वेत्स्यति स्तोकवासरैः ॥७०॥
इत्युक्त्वान्तर्दधे देवी समेतस्त्वत्पदान्तिके । यादृशं तु वचस्ते स्यात्तत्तथैव करोम्यहम् ॥ ७१ ॥

अर्थ—अगर भाग्यवश मेरी आज्ञा का पालन नहीं किया तो थोडे ही दिनों में जान लेना कि तुम्हारे तथा राजा के क्या होगा ? ॥७०॥ ऐसा कह कर देवी अदृश्य हो गई॰ फिर मैं आपके चरणों में आया हूं॰ अब जैसी भी आप की आज्ञा हो फरमाईये । वैसा ही करुंगा ॥ ७१ ॥

अथक्षितीश्वरः प्राह शृणु मंत्रिवर ! त्वया । कुलदेवीवचो नैव विधेयं सर्वथाऽन्यथा ॥ ७२ ॥
गच्छत्वमुत्सुकीभूय देवता गदितं कुरु । तथेत्युक्त्वा गतो मंत्री गेहं गत्वा तु सुप्तवान् ॥७३॥

अर्थ—मंत्री की कहानी सुनकर राजा ने कहा कि हे मंत्रीश्वर ! सुनो, कुल देवी के वचन को कभी भी उलटा मत करो । जैसा कहा वैसा ही करो ॥ ७२ ॥ उत्कंठा पूर्वक जाओ॰ देवी ने कहा वैसा ही करो, राजा की बात सुन मंत्री

अपने घर जाकर के चिन्तामुक्त होकर सो गया ॥ ७३ ॥

आरभ्य तद्दिनान्मंत्री तदुदाहरण स्मरन्। धर्माज्जयः सुनिश्चित्याभवत्पुण्यानुरागवान् ॥ ७४ ॥

अर्थ—उस दिन से उस उदाहरण को स्मरण करता हुआ मंत्री धर्म से जय होती है, ऐसा निश्चय पूर्वक पुण्य का पूर्ण अनुरागी बन गया ॥ ७४ ॥

अथानिलविजेतृभ्यां तुरगाभ्यां महाटवीम्। उल्लंघ्याग्रे गतौ तौ तु तृषितोऽभूत्तदाग्रजः ॥ ७५ ॥

अर्थ—इधर वायु को जितने वाले घोडे पर चढ कर के दोनो भाई भयंकर वन को पार करते हुए जा रहे थे. इतने में बडा भाई हंसराज प्यास से व्याकुल हो गया ॥ ७५ ॥

अग्रजेनानुजः प्रोचे वत्स ! विश्रम्यते क्षणम्। तुरगावतिखिन्नौ स्तस्तृषितोऽस्मि सहोदर ! ॥७६॥

अर्थ—बडे भाईने छोटे भाई को कहा. हे वत्स ! मुझे प्यास लगी है और घोडे भी थक गये है इस लिये हे भाई ! कुछ समय विश्राम करलेना चाहिये ॥ ७६ ॥

वत्सराजस्तदैवाह गृहीत्वा घोटकद्वयम्। गमिष्ये निर्विलम्बं तु जलान्वेषणहेतवे ॥ ७७ ॥

अर्थ—भाई के वचन के अनुसार दोनों घोडों को पकड कर वत्सराज ने कहा कि भाई ! जल की तपास करने के लिये मैं जल्दी ही जाउगा ॥ ७७ ॥

तावता वटवृक्षस्य छायायां स्वप निर्भयः। यावता नीरमादायाऽऽयामि सद्यस्त्वदन्तिके ॥ ७८ ॥

अर्थ—हे अग्रज ! आपके पास जल लेकर जब तक मैं आता हूं तब तक आप वटवृक्षकी छाया में निर्भय पूर्वक सो जाइये

इत्युक्त्वा पत्रशय्यायां विश्राम्याग्रजमादरात्। निर्गतो वत्सराजस्तु तोयानयनहेतवे ॥ ७९ ॥

अर्थ—ऐसा कह कर बडे भाई को आदर पूर्वक पत्ते की शया पर सुला करके वत्सराज स्वयं जल लेने के लिये निकल पडा

कनीयसापि तल्लेभे भ्रमता क्रोशपञ्चकम्। संतोष्याश्वयुगं केन गृहीत्वा ववले जलम् ॥ ८० ॥

अर्थ—चलता हुआ वत्सराज पांच कोश के बाद मिले हुए जल से दोनों घोडों को संतुष्ट करके भाई के निमित्त जल लेकर के वापिस चल पडा ॥ ८० ॥

यावतावत्सराजस्तु तत्रायाति तरोस्तले। परासुं तावता दृष्ट्वा बन्धुं तेनेति चिन्तितम् ॥ ८१ ॥

अकस्मादस्य किंजातं पश्चान्मम गतस्य च। अथ जानेऽनुमानेन पितुरेव विजृम्भितम् ॥ ८२ ॥

अर्थ—जब वत्सराज पानी लेकर उसी वृक्ष के नीचे पहुंचते ही देखता है तो मरे हुए भाई को देख शोक सागर में डूबता हुआ चिन्ता करने लगा ॥ ८१ ॥ अहो ! अचानक मेरे जाने के बाद भाई के क्या हुआ ? अहो ! अनुमान से जाना जाता है कि पिताजी की की हुई कपटाई है ॥ ८२ ॥

तृषाम्मृतोऽथवा केन रिपुणायं विनाशितः। श्रमेण वा विपन्नोऽयमामयेन बुभुक्षया ॥ ८३ ॥

अथवा वाजिदोषेणोद्वेगेन मन्युना पितुः। भिया राज्यं विनाशेनाऽऽयुषोऽभावेन संस्थितः ॥८४॥

अर्थ—अथवा प्यास से मर गया है ? कि कोई शत्रु द्वारा मारा गया है ? वा थकावट से ? या कोइ रोग से ? अथवा

भूख से मर गया है। हुआ क्या! ॥८३॥ अथवा घोडे के दोष से, या क्रोधके आवेश से या पिताजी के भय से या-राज्य नाश की शंका से अथवा आयुष्य का अंत ही आगया! ॥ ८४ ॥

अलं मनो विकल्पेन पश्यामि वटकोदरम्। ईक्षते यावतोत्थाय दृष्टोऽहिस्तावतामहान् ॥ ८५ ॥

अर्थ—अथवा, मानसिक कल्पना से क्या? बस, वटवृक्ष के बिलको देखूं. ऐसा विचार पूर्वक खडे होते ही देखा तो सामने बडा सर्प देखने में आया ॥ ८५ ॥

तं दृष्ट्वाचिन्तितं तेन दष्टोऽनेनाहिनाग्रजः। किमिदानीं विलापेन दुःखेन रुदनेन किम् ॥८६॥

अर्थ—उस सर्प को देख निश्चय कर लिया कि इसी सर्पने मेरे भाई को काट खाया है. अब रोने से, अथवा विलाप करने से और दुःख से क्या होगा! ॥८६॥

किमुपालम्भदानेन विधेर्निश्विसितेन किम्। किं दुःशिरः प्रघातेन दैन्योक्त्या लंघनेन किम् ॥८७॥

अयं केनाप्युपायेन कृतेनापि न जीवति। अथवाऽस्यां महाटव्यामुपायः क्रियते किमु ॥ ८८ ॥

अर्थ—भाग्य अथवा विधाता को उलाहना देने से क्या हो सकता? और माथा पीटने से एवं दीन वचन से और उपवासादि से भी क्या होगा? ॥ ८७ ॥अब कितने भी उपाय करने पर यह जीवित नही हो सकता, अथवा इस निर्जन निकट वन में कहा से क्या उपाय करें? ॥ ८८ ॥

अत्र जाङ्गलिको नास्ति नैव वैद्यो न भैषजम्। न विद्यते निमित्तज्ञः काचिन्नान्या प्रतिक्रिया ॥ ८९ ॥

अर्थ--इस वन में न तो कोइ मंत्र वादी है न वैद्य है, न दवाइ है और न निमितज्ञ ही है अर्थात् यहां कोइ प्रतिकार करने का साधन नहीं है ॥ ८९ ॥

विषहृन्नो मणिः कोऽपि न मन्त्रोऽपि मदन्तिके । कातर्य्यमधुना हित्वा दृढीकृत्य निजं मनः ॥९०॥
श्रीखण्डागरुकाष्ठानि पुरादानीय वेगतः । दत्वा भ्रातृतनौ दाहं करोमि समयोचितम् ॥ ९१ ॥

अर्थ—विष को हरण करने वाला मेरे पास न तो मणि है और न मंत्र ही । अतः कायरना को छोड मन को मजबूत करके श्रीखंड चंदन अगर आदि लकडी गांवसे जल्दी लाकर के भाइ के शरीर की दाह क्रिया समय के अनुसार करलूं ॥

बबन्ध वत्सराजस्तु दीर्घं निःश्वस्य तं शबम् । एकस्यामतियत्नेन शाखायां वटशाखिनः ॥ ९२ ॥
ततः सोऽपि क्षणार्द्धेन निर्गत्यारण्यदेशतः । लात्वा हरिद्वयं सार्धं प्राप त्र्यम्बावतीं पुरीम् ॥ ८३ ॥

अर्थ—वत्सराज निश्वासा पूर्वक भाइ के कलेवर को एक वट की शाखा के उपर वडे प्रयत्न से बांध कर दोनों घोडों को साथ लेकर उस प्रदेश से प्रयाण कर कुछही समय में त्र्यम्बावती नगरी में पहुंच गया ॥ ९२ ॥ ९३ ॥

श्रेष्ठिनः सोमदत्तस्यापणे गत्वोपविश्य सः । एधांसि चन्दनादीनि भारवाहकमस्तके ॥ ९४ ॥
आरोप्य यावदायाति तावदस्तं गतो रविः । तत्रैव रजनीशेषमवाह्याऽसौ तु केवलम् ॥ ९५ ॥
प्रातःकाले स निर्गत्य वटस्याधः समाययौ । यावत्तेनेक्षिता शाखा तावन्नालोकितं शवम् ॥९६ ॥

अर्थ—त्र्यम्बावती नगरी का मुख्य शेठ सोमदत्त के दुकान पर बैठ कर के वत्सराज ने चन्दनादि सामग्री को खरीद

करके भार वाहन मनुष्य के मस्तक पर देकर के वहां से निकलें तो रास्ते में ही सूर्यास्त होजाने से किसी भी प्रकार से रात्री व्यतीत कर प्रातः काल के समय वटवृक्ष के नीचे जा पहुंचा और शाखा पर बांधे हुए शव को उतारने की भावना से दृष्टि पात किया तो शव शून्य शाखा देख ने में आई॥ ९४ ॥ ९५ ॥

तद्दृष्ट्वातिदुःखेन पपात मूर्च्छया क्षितौ। क्षणेनोत्थाय निःश्वस्य, विलापानिति सोऽकरोत् ॥९७॥

अर्थ—शवको न देख वत्सराज असीम दुःख से मूर्छित होकर भूमि पर पड गया, और कुछ देर के बाद धैर्य पूर्वक खडे होकर विलाप करने लगा ॥ ९७ ॥

हे भ्रातस्तव किं जज्ञे मुक्त्वा मां त्वं कथं गतः। आजन्मापि त्वयैकाकी नैव मुक्तः क्षणादहम् ॥९८॥

अर्थ—हे भाई! तेरे क्या हुआ! मुझे छोड तूं कैसे गया! जीवनभर मुझे अकेला तुमने एक पल भी नही छोडा था॥

न क्रीडितं कदा स्वैरं त्वया भुक्तं न मां विना। चतुष्पथेऽपि न भ्रान्तं निजगेहान्तरेऽपि न ॥९९॥

नाधीतं लेखशालायां पयः पीतं न मामृते। विदधे न पितुःसेवा सावित्र्याः पदपूजनम् ॥१००॥

अर्थ—हे भाइ! मेरे विना तुमने न तो खेल खेला, न कभी भोजन लिया, न कभी बजार में घूमा, और न कभी घर के अन्दर ही भ्रमण किया ॥ ९९ ॥ मेरे विना न तो पाठशाला में पढा, और न पानी ही पीया, एवं न पिताश्री जीकी सेवा की और न सावित्री के चरणो की पूजा ही की ॥ १०० ॥

एकाकिना त्वया नैव चक्रे वीणाभिवादनम्। न गतं क्वापि मां त्यक्त्वा कौतुकानि निरीक्षितुम् ॥१०१॥

अर्थ—हे भाइ ! मेरे विना तुमने न कभी वीणा ही बजाई. और न मेरे विना कभी खेल तमासा देखने के लिये ही गया

धर्मकार्येऽपि नो न्यस्ता मतिर्मां भ्रातरं विना । अभ्यासश्चापि नो चक्रे नवगीतकवित्वयोः ॥१०२॥

अर्थ—हे वत्सल ! वत्सराज के विना कभी भी आपने अपनी बुद्धि धर्म कार्य में न लगाइ, और न कभी नई कविता बनाई और न अभ्यास हीं किया ॥ १०२ ॥

धनुर्विद्याऽपि नाभ्यस्ता व्यायामो न कृतस्त्वया । शुभाशुभानि कार्याणि मामपृष्ट्वाऽऽहतानि न ॥१०३॥

अर्थ—हे भाइ ! मेरे विना तुमने न धनुषविद्या सीखी, न व्यायाम ही किया न मेरे विना पूछे भले बूरे काम ही किया

सेहिरे मत्कृतागांसि बहूनि च यथा पुरा ! कथं न सह्यते चैकोऽपराधो मे त्वयाधुना ॥ १०४ ॥

अर्थ—हे हंसराज ! मेरे बहुत अपराधों को आपने पहले सहन किये है तो इस समय मेरे एक अपराध को सहन क्यों नहीं करते हो ? ॥ १०४ ॥

त्वन्निमित्तं मम स्वच्छं नीरमानयतः सतः । यावता तु विलम्बोऽभूत् सरोषस्तावताभवान् ॥१०५॥

अथ कार्य्ये विलम्बन्ते न करिष्ये कदाचन । एहि मे दर्शनं देहि यतोऽसि भ्रातृवत्सलः ॥१०६॥

अर्थ—हे भाइ ! आप के लिये स्वच्छ जल लेने के लिये जाने पर मुझे पुनः आने में विलम्ब हो जाने से मेरे उपर आप इतने क्यों रूठ गये ? ॥ १०५ ॥ हे भाई ! अब कभी भी आप के कार्य में विलम्ब नहीं करुंगा. आओ, मुझे दर्शन दो, क्योंकि आप भाई के बडे प्यारे हो ॥ १०६ ॥

आह्वानं दूरतोऽप्यन्योन्यसंभाषणमादितो । खेलनं हितशिक्षां ते स्मरामि हृदयान्तरे ॥१०७॥

अर्थ—हे भाइ ! आप मुझे दूरसे जैसे बुलाते थे. और परस्पर बात चीत करते थे. खेलते थे और हित शिक्षा देते थे. वे सब कुछ मुझे याद हैं ॥ १०७ ॥

कुलिशादपि चित्तं मे कर्कशं भात्यहो ! ध्रुवम् । विदीर्य्यते तदीयं हि स्नेहं स्मृत्वा न वेद्म्यतः ॥१०८॥

अर्थ—अहो ! भाइ के स्नेहसे भी मेरा हृदय नहीं फट रहा है. इसलिये मालूम होता है कि निश्चय करके मेरा हृदय वज्र से भी अत्यंत कठोर होगया ? ॥ १०८ ॥

अथवाऽयं न ते दोषो मम दोषोऽस्ति कर्मणः । जनकेन यथामुक्तस्तथाहं मुमुचे त्वया ॥१०९॥

एतदाभाणकं सत्यं जानाम्यनुभवादहम् । सर्वत्र दुःखिनो दुःखं सम्पद्यते गृहे वने ॥११०॥

अर्थ—अथवा आपका कोइ दोष नही. केवल मेरे कर्मोंका ही दोष है. जैसे पिताजीने मुझे छोडा है वैसे ही आपने भी छोड दिया ॥१०९॥ क्योंकि दुःखी मनुष्य को घर या वनमें जहां जांय वहा दुःख ही दुःख मिलता है यह बात मेरे अनुभव द्वारा सत्य हो गई है. इसमें संदेह नही ॥ ११० ॥

बलिनाऽपि मया भ्राता यदीयश्चेन्न रक्षितः । तदा मदाननं कस्य दर्शयेऽयं मलीमसम् ॥१११॥

अर्थ—बलवान मेरे रहते हुए भाई की रक्षा नही हुई. तो फिर अपना काला मुख अब किसको दिखला सकता हूं ? ॥

अतः परं वृथा गर्वः कर्तव्यो नेति लज्जया । साहसी विक्रमी दक्षो दाता त्रातास्मि नापरः ॥११२॥

अर्थ—मैं साहसी हूं, पराक्रमी हूं, चतुर हूं, दानी हूं, और रक्षक हुं. मेरे समान दूसरा कोइ नहीं है. परन्तु अब लज्जावश व्यर्थाभिमान करना उचित नहीं ॥ ११२ ॥

किं करोमि ? व्रजामि क्व ? कं स्तवीमि ? कमर्थये ? सोदरं नैव पश्यामि पुरः कस्य निवेदये ? ॥११३॥

अर्थ—हा देव ! क्या करुं ? कहां जाउं ? किसकी स्तुति करुं ? किससे मांगु ? और किसके सामने निवेदन करुं ? क्योंकि भाई को नहीं देख रहा हूं ॥ ११३ ॥

विधिना हरता बन्धुं मणिरुद्दालितः करात् । उन्मूलितस्तु कल्पद्रुः स्वमन्दिराङ्गणोद्गतः ॥११४॥

अर्थ—मेरे बन्धु को हरण करते हुए विधाताने मेरे हाथ से मणि ले लिया. और अपने घर के आंगणे में उगा हुआ कल्पवृक्ष को भी उखाड दिया ॥ ११४ ॥

कामकुम्भोऽपि हा ! भग्नः शुष्का तु कामगव्यपि । मनोरथतरुर्दग्धो जगच्छून्यं ममाभवत् ॥११५॥

अर्थ—हा ! मेरा कामघट घडा भी फूट गया. कामधेनु भी सूक गई. और मनोरथ वृक्ष भी जल गया, अहो ! सारा संसार मेरे लिये शून्य हो गया ॥ ११५ ॥

सर्वत्राऽपि धनावाप्तिरस्ति सीमन्तिनी रतिः यशोऽर्जनः सुहृत्सङ्गः सहोदरो दुरासदः ॥११६॥

अर्थ—सब जगह धंन मिल सकता है, स्त्री के साथ प्रेम भी हो सकता है. उज्ज्वल यश की प्राप्ति और मित्र के साथ संगती भी हो सकती है परन्तु प्यारे सहोदर-भाइ का मिलना अत्यन्त कठिन है ॥ ११६ ॥

अथ सचेतनीभूय हृदिस्मृत्वागमोदितम् । संसारासारतां ज्ञात्वा वत्सराजो व्यभावयत् ॥११७॥

अर्थ—इस प्रकार विचार करता हुआ, वत्सराज आगमोक्त वाक्यों को स्मरण करता हुआ एवं ससार की असारता को समझकर, आत्माको समझाने लगा ॥ ११७ ॥

सुगुरूक्तं वचश्चित्तेस्मरन्नात्मन् ! वृथाजड !। दधासि त्वं कथं दुःखं निर्जीवबन्धुहेतवे ॥११८॥
हतच्चापि न जानासि मृतः कोऽपि न जीवति । नैवोलंघ्यकृतं कर्म नायाति यौवनं गतम् ॥११९॥

अर्थ—सद्गुरु के उपदिष्ट वचन को भी स्मरण करता हुआ वत्सराज अपनी आत्मा को कहने लगा हे मूर्ख ! हे आत्मन् ? मरे हुए भाई के लिये दुःख क्यो धारण कर रहा है ! ॥ ११८ ॥ हे चेतन ! मरा हुआ कोइ भी जीन्दा नही होता है क्या यह भी तूं नही जानता ! किये हुए कर्म उलंघन नही होते है, और गइ जवानी वापिस नही आती ॥११९॥

प्राणिनां मृत्युरस्त्येव भ्रान्तिरत्र न कस्यचित् । निश्चितार्थे पदार्थेहि कुतस्ते संशयोऽभवत् ॥ १२० ॥

अर्थ—जन्म लिये हुए की मृत्यु होती ही है. इस में किसी को भ्रम नही है. नियत विषय में तुझे संशय कैसे हुआ ?

नृदेवदानवादीनामध्वायं शाश्वतो यदि । मरणाद्धंसराजस्य तर्हि मेऽनुशयः कथम् ॥ १२१ ॥

अर्थ—देव दानव मनुष्य आदि के लिये यह मार्ग शाश्वत यदि है तो हंसराज के मरनेसे पश्चात्ताप क्यों ? ॥१२१॥

पश्चात्तापे कृते किं स्यादवश्यं भाविवस्तुनि । दष्टोऽयं दंदशूकेन मद्भ्राताऽत्र मयेक्षितः ॥१२२॥

अर्थ—सर्प से डसा हुआ मेरा भाई मुझ से ही यहा देखा गया, यह भावी था. होनहार कौन हटा सकता है ? अत्र

पश्चात्ताप करने से क्या होगा ? ॥ १२२ ॥

आरूह्य वटशाखायां सोदरस्यकलेवरम् । तत्र बद्धंमया यत्नाद् यत्र केनापि नेक्ष्यते ॥ १२३ ॥

अर्थ—वटवृक्ष के शाखा पर चढ करके भाई के शरीर को बहुत यत्न पूर्वक बान्धा. जिससे कि कोइ देख न सकें ॥१२३॥

यावत्तदङ्गःसंस्कारकृते त्रम्बावतीं पुरीम् । गत्वाऽनयामि काष्ठानि हृतं केनापि तच्छवम् ॥१२४॥

अर्थ—जब शव को बांध कर अग्निसंस्कार के लिये त्रम्बावती नगरी से काष्ट लेकर के यहां आया. इतने में तो शवको कोइ चुरा ले गया फिर सोचता है कि ॥ १२४ ॥

विद्याधरेण भूतेन व्यन्तरेणाथयोगिना । केनाप्यपहृतं स्वार्थहेतवे निश्चितं शवम् ॥ १२५ ॥

अर्थ—विद्याधर भूत व्यन्तर अथवा योगीने अपने अपने स्वार्थवश में छिप करके निश्चय ही उस शव को चूरा लिया ॥

अटव्यामथ किं कुर्वे यामि त्रम्बावतीं पुरीम् । ददामि तानि काष्ठानि सोमदत्ताय श्रेष्ठिने ॥ १२६ ॥

अर्थ—अब इस वन में क्या करुं ! फिर त्रंबावती नगरीमें जाकर के काष्ट सब वापिस सोमदत्त शेठ को ही दे दूं ॥

विचार्य्यं नगरीं गत्वा सोमदत्तापणे गतः। तान्येवानर्घकाष्ठानि तस्मै दत्वा धनं ललौ ॥१२७॥

अर्थ—इस प्रकार विचार कर नगरी में जाकर के सोमदत्त की दुकान उपर बैठकर के खरीदी हुई लकडी को पुनः शेठ को देकर के अपना धन ले लिया ॥ १२७ ॥

तस्मिन्नवसरे पृष्टः सोमदत्तेन राजसूः । एतद्वस्तु स्वयं नीतं कथं प्रत्यर्पितं त्वया ॥ १२८ ॥

अर्थ—उस समय राजकुमार वत्सराजको सोमदत्तने पूछा कि भाइ! यह लकडी स्वयं खरीद करके वापिस तुमने क्यों दी?

तेनोचे श्रेष्ठिने भ्रातृसम्बन्धे सकलस्तदा। तच्छ्रुत्वा मायया सोऽपि जगाद गिरमीदृशीम् ॥१२९॥

अर्थ—शेठ की बातें सुनकर वत्सराजने भाइ की सब कुछ घटना कह सुनाई. उन्हें सुनकर मायावी शेठने ऐसी वाणी से कहना शुरु किया ॥ १२९ ॥

सखे! भवेऽत्र नो कस्य सर्वदा शाश्वतं सुखम्। इष्टयोगो न कस्यापि श्रूयते जीवितावधिः ॥ १३० ॥

अर्थ—हे मित्र! इस संसार में शाश्वतिक सुख किसीको कायम नहीं रहता है. और जीवन पर्यन्त वल्लभ व्यक्तिका योग भी नहीं सुना जाता है. अर्थात् सुख और दुःख जीवन के चक्र है, प्रतिदिन घूमा ही करता है ॥१३०॥

चरितं संसृतेरित्थं ज्ञात्वा मा दुःखभाग् भव। कस्य कः सोदरश्चेत्ते स्याद् बन्धुस्तत्कथं गतः ॥१३१॥

अर्थ—भाइ! संसार की इस लीला को समझ-बूझ कर दुःखी मत बन. क्यो कि किसका कौन भाइ है? अगर तेरा भाइ होता तो कैसे जाता? ॥ १३१ ॥

त्वयारति र्न कर्तव्या भ्रातृदुःखेन पण्डित!। शोको विवेकिना हेयः शोकोऽमंगलकारणम् ॥ १३२ ॥

कियद्दिनानि तिष्ठ त्वं सुखेनास्मद्गृहे सखे!। इत्युक्त्वा सदनं नीत्वा भोजितः श्रेष्ठिना तदा ॥१३३॥

अर्थ—हे पंडित! तूं भाइ के वियोग से खेद मत कर, विवेकशाली मनुष्य को चाहिये कि शोक छोड देवें क्योंकि शोक ही अमंगलका कारण है ॥ १३२ ॥ हे मित्र! आप मेरे घर में कुछ दिन ठहर जाओ. ऐसा कह कर के शेठने

वत्सराज को अपने घर ले जाकर पहले भोजन करवाया ॥ १३३ ॥

अभ्यङ्गोद्‌वर्त्तनस्नानाशनदानसमाधिना । कुमारस्तस्थिवान् प्रार्थनया तस्य तदौकसि ॥ १३४ ॥

अश्वद्वयं गृहीत्वानुजलपानाय गच्छति । कुमारोऽन्यस्य कस्यापि नहिविश्वसिति क्षणम् ॥ १३५ ॥

अर्थ—सोमदत्त की प्रार्थना से वत्सराज उसके घर में ठहर कर तेल का मालीस करना, उबटन लगाना, नहाना खाना पीना इत्यादि क्रिया शान्ति से करने लगा ॥ १३४ ॥ और वत्सराज किसी भी मनुष्य का क्षणभर भी विश्वास न करके स्वयं दोनों घोडों को पानी पीलाने के लिये लेजाने लगा ॥ १३५ ॥

कदाचिदापणे याति तत्रोपविशति क्षणम् । श्रेष्ठ्याज्ञया वत्सराजो विधत्ते क्रयविक्रयम् ॥ १३६ ॥

अर्थ—कभी वत्सराज दुकान पर जाता है, वहां कुछ समय बैठता है, और शेठकी आज्ञा से क्रय विक्रय भी करता रहता है

तथापि तस्य नो चित्तं भिन्नं मलिनचेतसः । रात्रिन्दिवं मनोमध्ये ध्यायत्येवं च दुष्टधीः ॥१३७॥

अर्थ—सच्चे वर्ताव से वत्सराज के रहने पर भी कलुपित परिणामी सोमदत्त शेठ का हृदय पलटा नहीं खाया । और रात दिन कपटी मन ही मन बूरा विचार करता रहा ॥ १३७ ॥

केनोपायेन गृह्णामि हयद्वयमिदं वरम् । अहं वैदेशिकस्यास्यातिथेः सर्वगुणान्वितम् ॥१३८॥

अर्थ—इस विदेशी अतिथि के सर्वगुणोपेत इन दोनों घोडों को किस उपाय से मैं लूं ? ॥ १३८ ॥

हुं ज्ञातमेनमाहोस्वित् कान्दिशीकं विदेशजम् । एकाकिनं मदाधीनं निवेश्य वेश्मकोणके ॥ १३९ ॥

अर्थ—हां समझ गया, डरसे भगा हुआ, मेरे अधिकारमें रहा हुआ, इस निराश्रीत विदेशीको घरके एक कौनेमें रख दुं ॥

प्रच्छन्नीकृत्यशीघ्र वै कृत्वास्यमुण्डितं शिरः। तुरगद्वयमुद्दाल्यप्रेषयिष्यामि क्वाप्यमुम् ॥ १४० ॥

अर्थ—एकान्त में इस को छिपाकर, माथे के बाल उतारवा कर और दोनों घोडों को लेकर जल्दी कंही बहार भेज दूं ॥

तुष्टेनानेन रूष्टेन किञ्चिन्निष्पद्यते नहि। अस्मिन् स्थितेऽथवाक्वापि गतेऽपि नो बिभेम्यहम् ॥१४१॥

अर्थ—इस के खुश रहने से अथवा नाराज होनेसे भी कुछ नहीं हो सकता है। अथवा यह यहां रह जाय या कंही चला जाय तो भी मुझे कोई भय नहीं है ॥ १४१ ॥

ध्यात्वेत्यकारि तच्छन्नं मुण्डितं तेन तच्छिरः। हृत्वा छलेन केनापि वसनाऽभरणादिकम् ॥ १४२ ॥

भूमिगेहे स्ववासस्यमत्यक्षनरकोपमे। निन्दिते तं बलात्क्षिप्त्वाऽवदच्छ्रेष्ठी पुनर्गिरम् ॥१४३॥

अर्थ—इस प्रकार विचार करने के बाद सोमदत्तने वत्सराज को एकान्त में ले जाकर के शिर मुंड दिया और किसी के द्वारा वत्सराज के कपडे भूषण आदि भी छल से हरण करवा करके घरके अन्दर ही नरकतुल्य निन्दित भूमि घर में बलात्कार वत्सराज को पटक कर शेठ कहने लगा ॥ १४२ ॥ १४३ ॥

स्थातव्यमत्र रेरङ्क ? साक्षात्पाटच्चरो भवान्। कुतोऽप्यश्वयुगं ग्रामाद् धृत्वा ह्यत्रत्यभूपतेः ॥१४४॥

अर्थ—हे दीन ! इस तलघर में रहना, तूं साक्षात् लुटेरा है क्यों कि इन दोनों घोडों को यहा के राजा का किसी गांव से चूरा लाया है ॥ १४४ ॥

पुरेऽत्रैव समायात उपविष्टस्त्वमापणे। तलारक्षेण सद्वाजिद्वयंदृष्ट्वोपलक्षितः ॥ १४५ ॥
तेन गत्वा नृपस्याग्रे विज्ञसमवनीपतेः। त्वद्वाजिसहितस्त्वेकस्स्तेनोऽस्त्यत्राऽगतः पुरे ॥ १४६ ॥

अर्थ—तूं इसी नगरीमें आकर के बजार में बैठा, इतनेमें पहेरदारने दोनों घोडों को देख-पहचान कर राजा के सामने जाकरके कहा कि हे स्वामिन्! आपके घोडों को चूरा कर के एक चोर इस नगर में आया है ॥१४५॥ ॥१४६॥

नृपेणोद्दीरितं दस्युश्चेत्त्वयाऽद्यनिरीक्षितः। कथं धृतो न तेनोक्तं स्वामिन्नाज्ञांविना तव ॥ १४७ ॥
सम्यङ् न वेद्म्यहंतेन न धृतस्तस्करो मया। यदादिशत्यथ स्वामी ? त्वरितं तत्करोम्यहम् ॥ १४८ ॥

अर्थ—पहरेदारकी बातें सुन राजाने कहा अरे! चोर को तुमने देखा तो क्यों नहीं पकड लाया ?। उतर में उस ने कहाकि स्वामिन्! आपकी आज्ञा विना कैसे पकड लाता! ॥ १४७ ॥ अच्छी तरह खबर भी न होने के कारण मैंने उस चोर को नहीं पकडा. अब स्वामी की जैसी भी आज्ञा हो वैसा जल्दी करुं ॥ १४८ ॥

राजादेशेन तेनापि मदावासाद्धयद्वयम्। तरसोद्दाल्यभूपाय प्रददेऽथनृपोऽगदत् ॥ १४९ ॥
त्वरितं हयहर्तारमानयेति मदग्रतः। नान्यथा जीवितं ते वै मद्वचोमावधीरय ॥ १५० ॥

अर्थ—राजा के आदेशानुसार कोतवालने मेरे घर से दोनों घोडो को शीघ्र ले जाकर के राजा को सुपुर्द कर दिया, फिर राजा कहने लगा. कि घोडे की भांति उस चोर को भी पकड लाओ, वरना तुम को जीवन से हाथ धोना पडेगा, अत एव मेरे बात की उपेक्षा न करके चोर को शीघ्र ले आओ ॥ १४९ ॥ १५० ॥

भूपतेर्वचनाद्भीभ्यत्तलारक्षः पुरे गृहे। उद्याने वाटिकायां त्वद्यापि तस्करमीक्षते ॥ १५१ ॥
लेभे परं न कुत्रापि मामाह गृहमेत्यसः। यथाश्वयुगमासीत्ते तथा स्तेनोऽस्ति वेश्मनि ॥ १५२ ॥

अर्थ—राजाके वचन से भयभीत होकर के कोतवाल नगर में घरमे उपवन में और बगीचा में आज भी चोर को ढूंढ रहा है फिर भी कंही नही मिलने पर मेरे घर आया और बोला कि–जैसे दोनों घोडे थे वैसे ही चोर भी तेरे घरमें है ॥

अथोक्त तुरगाधीश आनीतोऽभून्मयागृहे। दययाऽप्यपरंक्षापि विमुच्य वाजिनावपि ॥ १५३ ॥
जग्मिवान् गतयामिन्या न जाने केन हेतुना। पदे पदे भवेयुर्वा पापाः सर्वत्रशंकिताः ॥ १५४ ॥

अर्थ—कोतवाल की बातें सुन मैंने (सोमदत्तने) कहा कि भाई! दया से उस घोडेवाले को मैं अपने घर लायाथा, लेकिन वह तो दोनो घोडों को यहां छोडकर रातमें ही कंही चला गया क्यो गया ? यह मुझे खबर नहीं। हां एक बात जरुर है कि गुनाही व्यक्ति को पद पद पर शंका रहती है अतः कंही भाग गया होगा ॥ १५३ ॥ १५४ ॥

एवं त्वया पुरारक्ष! भव्यं चक्रे मदीप्सितम्। निःस्वामिकौ हयावेताविनाधीनौ कृतौ पुनः ॥१५५॥

अर्थ—नगर रक्षक! तुमने मेरे मन वाछित कार्यको पूरा किया, क्योंकि विना नायक के इन दोनों घोडों को स्वामी के आधीन कर दिया ॥ १५५ ॥

एतद् भावि न भूतं नो कदापि नो भविष्यति। स्थाप्यते स्वगृहस्यान्तर्यदस्माभिर्मलिम्लुचः ॥१५६॥

अर्थ—यह कभी नहीं होता है न हुआ है और न होगा कि मैं अपने घरके अन्दर चोरको छिपा कर रख दूं ॥१५६॥

रजनीभोजनाहारे कृतेस्याद्दुरितं कियत् । ततो मेऽष्टगुणं पापं स्तेनः स्याच्चेन्मदोकसि ॥१५७॥

अर्थ—हे रक्षक ! यदि मेरे घरमें चोर हो तो–रात्रि भोजनसे जो पाप होता है उससें आठगुना अधिक पाप मुझे लगे ॥

शीलभंगेन साधूनां यादृक् दोषप्रजायते । ममापि तादृशो दोषोऽश्वहर्ता स्याद् गृहे यदि ॥ १५८ ॥

अर्थ—एवं–यदि मेरे घर में अश्व को हरण करने वाला चोर हो तो–शील भंग से जो दोष साधु को लगता है वो दोष मुझे लगे ॥ १५८ ॥

इत्यादिशपथैश्चेत्त्वं मद्वचो मन्यसे नहि । तर्हि मद्भवनं सद्योऽवलोकयातियत्नतः ॥ १५९ ॥

अर्थ—इस प्रकार के मेरे शपथ से भी विश्वास न हो तो मेरे घर जाकर आप स्वयं देख लीजिये ॥ १५९ ॥

मन्मिष्टवचनैर्भक्त्या कियल्लञ्चाप्रदानतः । मत्कृतैः शपथैश्चित्रैस्तस्य चित्तंचमत्कृतम् ॥ १६० ॥

अर्थ—इस प्रकार मेरे प्रिय एवं मधुर वचन से, अनेक शपथ से और बहुत कुछ चीजें भेट देने से उस कोतवाल का चित्त प्रसन्न हो गया ॥ १६० ॥

जगाम सोऽपि विश्वस्तस्त्वरितं राजमन्दिरम् । सर्वत्रालोकितः स्तेनः परंक्वापि न दृश्यते ॥ १६१ ॥

राज्ञोक्तं रे ! जड ! च्छन्नीभूयालोकय मत्पुरे । कदाप्यश्वकृते लोप्त्रालंकृतः स समेष्यति ॥१६२॥

अर्थ—मेरे वचनों पर विश्वास करके कोतवाल जल्दी राज महलमें चला गया, और राजा को कहाकि सब जगह ढूंढने पर भी चोर कंही दिखाई नहीं दिया ॥ १६१ ॥ कोतवाल की वातें सुन राजाने कहा, रे मूर्ख ! फिर मेरे नगरमें

स्फुटं ज्ञात्वेति रे ! जीवोपभुंक्ष्व प्राग्भवार्जितम् । कर्म स्वंत्यज कातर्य्यमुत्कटीभव मा वृथा ॥१८१॥
कर्मक्षये पुनर्जाते सुखं भावि यशोधनम् । भाविनी चिन्तितावाप्तिः खिद्यते त्वं मुधाऽधुना ॥१८२॥

अर्थ—रे जीव ! पूर्वभव के उपार्जित कर्म को सविस्तार समझकर उसके फल को भोग । कायरता को छोड और व्यर्थ प्रचण्ड मत वन ! क्योंकि कर्मोंका क्षय होने पर सुख यश और धन अनायास ही मिल जायगा. एवं मनोरथ भी पूरे हो जायेंगें । इसलिये हे जीव ! अभी तूं खेद मत कर ॥ १८१ ॥ १८२ ॥

यथैव कूपघटिका रिक्ता पूर्णा क्षणाद्भवेत् । तथाजन्तोः सुखं दुःखं स्यात्क्रमात्कर्मयोगतः ॥१४४॥
इत्थं बोधयता तेनात्मानं प्रतिदिनं मुहुः । संवत्सरोपमः कष्टान्मासश्चैकोऽतिवाहितः ॥१८५॥

अर्थ—जैसे अरहट के घडे एक तरफ से खाली होते है और दूसरी तरफ से भरे जाते है. ठीक वैसे ही प्राणियों को सुख और दुःख कर्म के योग से होते रहते है । इस तरह अपनी आत्मा को वारंवार समझाता हुआ वत्सराजने एक वर्ष के समान एक मास को कष्ट पूर्वक विताया ॥ १८४ ॥ १८५ ॥

इतश्च सोमदत्तेन श्रेष्ठिना प्रगुणी कृतम् । यानपात्रं वरद्वीपपण्याऽनयनहेतवे ॥ १८६ ॥
अन्येऽपि वहवः पोता लौके स्तत्पुरवासिभिः । सज्जीकृतास्तदानेकवस्तुभिः पूरिता पुनः ॥१८७॥

अर्थ—इधर सोमदत्त शेठने श्रेष्ठद्वीप से वेंचने की चीजें लाने के लिये जहाज को तैयार कर दिया । शेठ के देखादेखी उस नगर के और भी वहुत से लोकोने भी अनेक प्रकार के सामान से भरकर जहाज तैयार कर दिया ॥ १८६ ॥ १८७ ॥

छिपकर के उसे ढूंढ, क्योंकि घोडे के लालच से आभूषण युक्त वह आवेगा ॥ १६२ ॥

उद्दीर्य्यंते पुरारक्षः प्रेषितः स्वामिना पुराः । नृपादेशेन सोऽद्यापि बम्भ्रमीति च त्वत्कृते ॥१६३॥

अर्थ—ऐसा कह कर राजासे भेजा हुआ वह कोतवाल स्वामीके आदेशानुसार आज भी तेरे लिये नगरमें घूम रहा है॥

तवैववृत्तमाख्यातं त्वदग्रेनिखिलं मया । रक्षात्मानं विदित्वेऽथं दुःखं विपद्यदुस्सहम् ॥१६४॥

अर्थ—तेरे सामने में तेरी ही सब कहानी मैनें कह सुनाई, तुम दुःसह, दुःख भी समझ कर एवं सहन करके अब अपनी आत्मा की रक्षा कर ॥ १६४ ॥

त्वद्रक्षणकृते वत्स ! मत्कृतं श्रृणु चापरम् । कचापनयनं कृत्वा बलाच्च तवमस्तके ॥१६५॥

वस्त्रालङ्कारमादाय विधिना केनचित्तव । स्वगेहासन्नभूगेहे निक्षिप्तोऽस्ति मया भवान् ॥१६६॥

अर्थ—हे वत्स ! तेरी रक्षा के लिये जो जो मैने किया है उसे सुन ! बलात्कार पहले तेरे माथे का बाल उतरवा दिया। फिर किसी प्रकार तेरे कपडे को ले लिया, और अपने घरके पास तलघर में तुमको रख दिया, इतने उपाय मैंने तेरी रक्षा के लिये ही किया है ॥ १६५ ॥ १६६ ॥

रे कृतघ्न ! दुराचार ! जीवितेच्छास्ति चेत्तव । कियानपि त्वया कालो नेयोऽत्र भूमिकालये ॥१६७॥

अर्थ—हे कृतघ्न ! हे दुष्ट ! अगर तेरी जीनेकी इच्छा है तो इस भूमि घर में कुछ दिन रहकर समय विताओ ॥१६७॥

स्थेयमत्रदिवारात्रौ शयनीयं निजेच्छया । अशनं चात्र कर्तव्यं पेयं वारि च शीतलम् ॥१६८॥

श्रेष्ठी सांयात्रिकीभूय प्रतस्थे धनहेतवे। स्वजनानखिलान् बन्धूनापृच्छ्य सुहृदः स्वकान् ॥ १८८ ॥

अर्थ—सोमदत्त शेठ स्वयं नाविक होकर के अपने भाइ बन्धु और इष्ट मित्रों को पूछ कर के धन कमाने के लिये वहां से चल पडा ॥ १८८ ॥

अन्येऽपि प्रस्थिता गेहात्पोताधिपतयस्तदा। श्रेष्ठिनः सोमदत्तस्य सार्थे शुभेऽह्निसादरम् ॥१८९॥

अर्थ—सोमदत्त के साथ मे और भी जहाजो के मालिक अच्छे दिन में अपने घर से रवाना हुए ॥ १८९ ॥

पयोनिधौ निचिक्षेप महोत्सवपुरस्सरम्। बोहित्थैरपरैः सार्द्धं पोतं श्रेष्ठी सुहृद्युतः ॥ १९० ॥

सर्वेऽपि चलिताः पश्चादापृच्छ्य स्वजनाङ्गनाः। त्वरितागमनं भूयाद् वदन्तो भवतामिति ॥ १९१ ॥

अर्थ—सोमदत्त ने हर्ष प्रयुक्त अनेक जहाजो के साथ अपना जहाज भी समुद्र में छोड दिया. तमाम व्यापारी अपने अपने जहाज पर चढ बैठे. और शेठ के कुटुम्ब परिवार के व्यक्ति कहते हुए कि जल्दी पधारना जल्दी पधारना इत्यादि शब्दों से विदाई देकर के अपने अपने घर लौट गये ॥ १९० ॥ १९१ ॥

ततश्चालयितुं लग्नाः पोतान्निर्यामकादयः। न चेलुः सतिवायौ ते पदमात्रमपि स्फुटम् ॥ १९२ ॥

न चलंति यदा पोताश्चाल्यमाना अपि भृशम्। ते सचिन्तास्तदा जज्ञुः श्रेष्ठिप्रभृतयो जनाः ॥१९३॥

अर्थ—नाविक लोग अपने अपने जहाजों को चलाने लगे. परन्तु वायु अनुकूल होने पर भी जहाज नही चलता है। बहुत कुछ प्रयास करने पर भी जहाज को अचल देख कर वहा बैठे हुए सोमदत्त आदि सा चिंता करने लगे ॥ १९२ ॥

श्रेष्ठिनं ते वदन्तिस्म पोतेशाः श्रेष्ठिपुङ्गवाः । स्थाग्निनोऽद्यापि बोहित्थाः किमेते कारणं विना ॥१९४॥
सम्यगाराधिताऽस्माभि र्गोत्रजा चिन्तितप्रदा । ग्रह पूजापि विदधे मुहूर्त्तमपि साधितम् ॥१९५॥

अर्थ—जहाजों के मालिकों ने शेठ को कहा कि आज क्या कारण है कि जहाज नहीं चलती है ? ॥ अभिलपितको देनेवाली कुल देवी को अच्छी तरह आराधना की. ग्रहो की पूजा की. और मुहूर्त्त को भी साध लिया ॥१९४-१९५॥

ग्रहीता गुरुणा दत्ता आशीषोऽपि जयप्रदा । गणाधिपोऽर्चितो भक्त्या मोदकैरचिरोद्भवैः ॥१९६॥
क्षेत्राधिपस्यापि बलिर्दत्तः प्रत्यूरवारकः । अन्येषामपि देवानां कृतं तु समयोचित्तम् ॥ १९७ ॥

अर्थ—गुरु से दी गई जय देने वाली आशीष भी ली. और ताजे लाड्डू से भक्ति पूर्वक गणेश की पूजा भी की। तथा क्षेत्र पाल के लिये बलिदान भी दिया. और दूसरे देव देवी के लिये भी समयोचित कार्य किया ॥१९६॥१९७॥

अद्यापि यानपात्राणि न चलन्ति कथं पुनः । विस्मृतं नास्ति नास्त्येव तथापि विस्मृतं स्मर ॥१९८॥
पोताधिपोऽसि वृद्धोऽसि विधिज्ञो भाग्यवानसि । यदादिशसि तत्कुर्मस्तवाज्ञाकारिणो वयम् ॥१९९॥

अर्थ—फिर भी जहाज क्यों नहीं चल रहा है ! कुछ भूल तो नहि गये ! कदाच भूल गये हो तो उसे याद करलो। क्योंकि आप जहाजों के मालिक हो. वृद्ध हो विधि के जानकार हो. और भाग्यशाली हो, आपका आदेश हो वैसा ही हम करें चूंकि हम लोंग तो आप की आज्ञा का पालक है ॥ १९८ ॥ १९९ ॥

स्मरेष्टदेवतां सद्यः किं प्रतीक्ष्य प्रतीक्षसे । अथाह श्रेष्ठिमुख्योऽपि वृथा भवत माकुला ॥२००॥

अर्थ—आप जल्दी इष्ट देव का स्मरण करों. किसकी राह देखते हो ? उन सब की बातें सुन शेठने कहा भाई ! व्याकुल क्यों हो रहे हो ? ॥ २०० ॥

अथ सायं स्मरिष्यामि निजामभीष्टदेवताम् । इत्याख्याय दिनस्यान्ते वशीकृत्य निजं मनः ॥२०१॥
शुचीभूयातियत्नेन भक्त्या निबिडया ततः । देवी माराधयामास श्रेष्ठी विरचिताञ्जलिः ॥२०२॥

अर्थ—मैं आज साझ में अपने इष्ट देवता का स्मरण करूंगा. ऐसा कहकर दिन के अन्त में अपने मन को वश में कर के पवित्रता पूर्वक दोनो हाथ जोडता हुआ अत्यन्त भक्ति पूर्वक बडे यत्न से देवी की आराधना की ॥२०१॥२०२॥

आविर्बभूव सादेवी ! व्योम्नि स्थित्वा जजल्प तम् । दुष्ट ! पापिष्ट ! विस्मार्य्य मामपि त्वं गमिष्यसि ॥२०३॥

अर्थ—आराधना करने पर देवी प्रकट होकर आकाश में खडी रह कर बोली. रे दुष्ट ! पापी ! मुझे भुल कर तूं जाना चाहता है ! ॥ २०३ ॥

रे लोभान्ध ! न जानासि मामम्भोनिधिवासिनीम् ! पोताधिष्ठायिनीं देवीं भैरवीनामविश्रुताम् ॥२०४॥

अर्थ—अरे लोभान्ध ! समुद्र में रहनेवाली जहाजों की अधिष्ठात्री. और भैरवी नाम से विख्यात देवी को तूं जानता है ?

आराधयसि यावन्मां नैवत्वं कारणादपि । त्वमिच्छसि कुतो भद्रं बोहित्थस्य च वस्तुनः ॥२०५॥
यद्यस्ति जीविताकांक्षा पोतस्येच्छसि मंगलम् । विदेशगमनेच्छा ते तर्हिं त्वं मद्वचः कुरु ॥ २०६ ॥

अर्थ—जब कारण वश भी तू मुझे आराधन नही करता है तब तेरे और तेरे जहाजों आदि का कल्याण कैसे हो

सकता है ? यदि तुमको जीने की इच्छा हो, जहाजों को सुरक्षित रखने की इच्छा हो. और विदेश जाना चाहता हो तो मेरे वचनों को स्वीकार कर ॥ २०५ ॥ २०६ ॥

द्वात्रिंशल्लक्षणोपेत मर्त्यामिष प्रदानतः । तोषयाऽशु ततस्ते स्युः पोताः पवनगत्वराः ॥ २०७ ॥
श्रेष्ठिनाऽङ्गी कृते देवी विद्युदिव तिरोदधे । तत्रैवानायितस्तेन वत्सराजस्तदा गृहात् ॥ २०८ ॥

अर्थ—मुझे बतीश लक्षण से युक्त मनुष्य का मांस देकर के संतुष्ट शीघ्र कर. जिससे तेरे जहाज वायु की तरह चलने लगेगा ॥२०७॥ शेठ के स्वीकृत वचन सुनती हुई देवी विजलीकी तरह लोप हो गई. फिर शेठने उसी जगह पर अपने घरसे वत्सराज को बुलवा लिया ॥ २०८ ॥

आयातं तमिति प्राह श्रेष्ठी रे स्मर दैवतम् । येनाहं त्वां हनिष्यामि भैरवीबलिहेतवे ॥२०९॥
त्वमेव धन्यो जानेऽहं धुर्य्यः परोपकारिषु । यदामिषरसैस्तृप्ता देवी तुष्टा भविष्यति ॥ २१० ॥

अर्थ—वत्सराज को शेठ ने कहा कि अरे ! देवता को याद कर. क्योंकि मैं भैरवी देवी को बलिदान देके के लिये तुम को मारुंगा ॥ २०९ ॥ तुम परोपकारियों में धुरन्धर हो. और तुम धन्य हो. क्यों कि तेरे मांस के स्वाद से तृप्त होकर भैरवी देवी प्रसन्न हो जायगी. ऐसा मैं जानता हूं. ॥ २१० ॥

वत्सराजोऽप्यभाषिष्ट मार्य्योऽहं केन हेतुना । बोहित्थकानि तेनोक्तं न चलन्ति पदं यतः ॥२११॥

अर्थ—शेठ की बातें सुन वत्सराजने कहा. किस लिये मुझे मारते हो ? प्रत्युत्तर में शेठ ने जवाब दिया कि जहाज

न चलने के कारण ॥ २११ ॥

तेनात्र मारणियोऽसि देवी विघ्नोपशान्तये । अस्मिन्कार्ये कृते पोताश्चलिष्यन्ति सुखेन हि ॥२१२॥

अर्थ—और देवी का विघ्न शान्ति करने के लिये तुमको मारना है, ऐसा करने पर जहाज अनायास ही चलने लग जायगा

वत्सराजेन गदितं याममेकं प्रतीक्ष्यताम् । एतानि यानपात्राणि प्रस्थास्यन्त्यधुना स्वयम् ॥२१३॥

अर्थ—शेठ के वचन के प्रत्युत्तर में वत्सराज ने कहा कि एक पहर और प्रतीक्षा कीजिये, थोडी देर के बाद जहाज अपने आप चलने लगेगा ॥ २१३ ॥

गदित्वेति शुचिस्थान उपविश्य कुमारकः । चकारस्मरणं पञ्चपरमेष्ठिनमस्कृतेः ॥ २१४ ॥

नमस्कारप्रभावेण याममात्रगतेऽपि सा । देवी समेत्य तं प्राह जयशब्दं प्रकुर्वती ॥ २१५ ॥

अर्थ—शेठ को आश्वासन देकर वत्सराज पवित्र जगह पर बैठ कर पञ्चपरमेष्ठी नमस्कार महामन्त्र का स्मरण करने लगा। नमस्कार के प्रभाव से एक पहर भी पूरा नही होता है इतने में जय ध्वनि करती हुई देवी वत्सराज के पास आकर कहने लगी ॥ २१४ ॥ २१५ ॥

कथं स्मरसि मां सत्वशालिन् त्वं च किमिच्छसि। मन्त्रेणानेन त्वाकृष्टाऽयातास्मि किं करोम्यहम् ॥२१६॥
अवादीद् वत्सराजोऽपि जीवितं देहि भैरवि।। गत्वापवनजेतृणि वाहनानि कुरु द्रुतम् ॥ २१७ ॥

अर्थ—हे वलिष्ठ ! क्यो मुझे याद की ? तुम क्या चाहते हो ! नमस्कार महा मंत्र के आधीन होकर आई हू. कहो!

मैं क्या करुं ? ॥ २१६ ॥ देवी को वत्सराज ने कहा हे भैरवि ! मुझे जीवित दान दो और पवन के वेग को भी जीतने वाली गति से जहाजें जल्दी चला दो ॥ २१७ ॥

अथ तं देवताऽचख्यौ जीवितं ते ददे मया । त्वदीप्सितं करिष्येऽहमन्यदप्यधुनैव हि ॥२१८॥

अर्थ—उतर में देवी ने खुश होकर के कहा कि मैंनें तुम को जीवित दान दे दिया. और अब तेरे मनोभिलषित कार्य भी अभी कर दूंगी ॥ २१८ ॥

गदितं प्रगटीभूय पुनर्देवतया तदा । श्रेष्ठिन् ! प्राणिवधो नैव कर्त्तव्यः सुख मिच्छता ॥२१९॥

अस्य सत्त्वेन तुष्टाहं चिन्ता कार्या न काचन । अस्मिंश्च वाहनारूढे बोहित्थं ते चलिष्यति ॥२२०॥

अर्थ—इधर देवी प्रकट होकर शेठ को कहने लगी. हे श्रेष्ठिन् ! अगर तूं सुख चाहता है तो प्राणिवध मत कर । क्योंकि मैं इस भाग्यशाली के पराक्रम से संतुष्ठ हो गई हूं. और तुम भी चिन्ता मत कर । तेरी जहाज उपर यह व्यक्ति बैठने पर तेरी जहाज शीघ्र चलने लगेगी ॥ २१९ ॥ २२० ॥

अनुयास्यति तत्पृष्ठात्पोतवृन्दमपित्वरा । अनुशास्तिमिमां दत्वा स्वस्थानं देवता ययौ ॥ २२१ ॥

सश्रेष्ठिवचसाप्रीत आरुरोह सुपोतकम् । तत्पश्यतां तु सर्वेषां प्रतस्थे तत् क्षणादपि ॥ २२२ ॥

अर्थ—और ज्यों ज्यों इसका जहाज आगे बढेगा, त्यों त्यों पीछे के सब जहाज चलने लग जायगा । शेठ को ऐसा कह कर देवी अपने स्थान चली गई ॥२२१॥ उसके बाद शेठ की आज्ञा से वत्सराज कुमार जहाज पर जाकर बैठता है

कि सब के देखते देखते जहाज चलने लग गया ॥ २२२ ॥

अपराण्यपि तत्पश्चाच्चेलुर्देव्या अनुग्रहात्। मन्त्राराधनतो वत्सराजस्यापि निरन्तरम् ॥२२३॥

अर्थ—वत्सराज के नमस्कार महामन्त्र की आराधना से संतुष्ट देवी की परम कृपा से दूसरे दूसरे भी जहाज उसके पीछे चलने लग गये ॥ २२३ ॥

कियद्भिर्वासरैः प्रापुः सिंहलद्वीपमुत्तमम्। श्रेष्ठिप्रभृतयो लोकाः क्षेमेण पवनेरिताः ॥ २२४ ॥

उत्तीर्णः सकलो लोको यानपात्रान्निजान्निजात्। जहर्षातीव तद्द्वीपमालोक्य विस्मयप्रदम् ॥ २२५ ॥

अर्थ—श्रेष्ठि प्रभृति सब लोक कुशल पूर्वक कितने ही दिनोंके बाद वायु से प्रेरित जहाज सिंहलद्वीप में पहुंचने पर अपने अपने जहाज से उतर कर महा विस्मयकारी सिंहल द्वीप देख देख कर अत्यन्त हर्षित हो गये ॥२२४॥२२५॥

द्वीपान्तःप्रवरं रत्नपुरं प्राप्याखिलैर्जनैः। स्वकीयावसतिश्चक्रे लात्वा गेहानि भूरिशः ॥ २२६ ॥

क्रयाणकानि सर्वाणि समुत्तार्य निकेतने। वत्सराजान्वितः श्रेष्ठी करोति क्रयविक्रयम् ॥२२७॥

अर्थ—उस द्वीप के अन्दर रहा हुआ रत्नपुर शहर को पाकर सब लोगों ने तमाम वस्तुएं लाकर के अपने अपने घर बना दिये। और जहाज की चीजें भी नीचे उतार कर अपने घर में रख दी। और वत्सराज के साथ शेठ सोमदत्त खरीद बिक्री करने लगा ॥ २२६ ॥ २२७ ॥

अथैतो विंशतिमितान् जग्राहाकरसम्भवान्। पण्यं विक्रीय विविधं स्वान्यदेशजवस्तुवित् ॥२२८॥

तेनेरितोऽव्रजद्वत्सराजो गोपालवेषभृत्। तच्चारणकृते नित्यं सीमायां तत्पुरस्य च ॥२२९॥

अर्थ—देशी और विदेशी वस्तु को जाननेवाला सोमदत्त अनेक प्रकार से व्यापार करता हुआ उत्तम कुल में पैदा हुए बीश घोडों की खरीदी करता है ॥ २२८ ॥ शेठ से भेजा हुआ वत्सराज गोवालिये का वेष धारण कर के रत्नपुर शहर की सीमा में हमेशां घोडों को चराने के लिये जाने लगा ॥ २२९ ॥

इतश्च सिंहलद्वीपमध्ये रत्नपुराख्यया। ख्यातमस्ति पुरंतत्र ताम्रचूडाभिधो नृपः ॥ २३० ॥

अर्थ—इधर सिंहलद्वीप के अन्दर रही हुई रत्नपुर नाम की विख्यात नगरी में ताम्रचूड नाम का राजा राज्य करता था

तत्पत्नी सुन्दरीनाम्ना सत्यशीलगुणान्विता। तत्सुताभिमतास्त्येका रत्नावलीति विश्रुता ॥२३१॥

सा क्रमाद्यौवनं प्राप्ता रूपसौन्दर्यशालिनी। पित्रा निरीक्ष्यमाणोऽपि कोऽपि लेभे वरो नहि ॥२३२॥

अथ—और उस राजा के सत्य और शील से विभूषित सुन्दरी नाम की पटरानी थी, और रत्नावली नाम की एक कन्या थी। उस कन्या को रुप-सौन्दर्य के साथ युवावस्था में आरुढ देख कर पिताजी के खोज करने पर भी सुन्दर वर नहीं मिला ॥ २३१ ॥ २३२ ॥

यादृक् तादृक् वरस्तस्यै रोचते नहि सर्वथा। नामापि तस्य नादत्ते दृष्टया तं च न पश्यति ॥ २३३ ॥

अर्थ—रत्नावली जैसा तैसा वर पसंद नहीं करती उस का नाम भी लेना नहीं चाहती और देखना भी दृष्टि से पसंद नहीं करती ॥ २३४ ॥

कन्यया दर्शिताः पित्रा श्राविता नृपनंदनाः । इत्यमात्यसुताश्चान्येऽप्युद्वाहार्थं सखीमुखात् ॥२३४॥
परं तस्या मनः कस्योपर्य्यासससाद नो रतिम् । विरक्तं सर्वथा चेतो जायते स्माधिकाधिकम् ॥२३५॥

अर्थ—कन्या के पिताने अनेक राजकुमारों को दिखलाया. और उनके नाम भी सुनायाः तथा सखियों के मुख से विवाह के लिये अनेक मंत्री पुत्रों के नाम भी सुनाया। परन्तु उसका मन किसीके उपर आसक्त नही होकर प्रत्युत और उसका मन अधिक विरक्त होता गया ॥ २३४ ॥ २३५ ॥

अम्बयैकान्तमासाद्यैकदाऽपृच्छि निजासुता । न करोषि कथं वत्से ! स्वपाणिग्रहणोत्सवम् ॥२३६॥

अर्थ—एक समय एकान्त पाकर माताने कन्या से पूछा—हे वत्से ! तू अपना विवाह का महोत्सव स्वीकार क्यों नहीं करती ?

पूर्णं यौवनमासाद्यद्यापि त्वमलसायसे । उचितं वरमादत्व पूरयास्मन्मनोरथान् ॥ २३७ ॥

अर्थ—युवावस्थाको पाकरके भी तू आलस करती है. आज भी उचित वरको स्वीकार कर मेरे मनोरथको पूरा कर ॥

पुरा तीर्थंकरैः सर्वैर्मल्लिनेमिविवर्जितैः । दुष्प्राप्योऽन्यनृणां चक्रे वैवाहिकमहोत्सवम् ॥ २३८ ॥
अस्मिन् कर्मणि नो पाप न यशोहानिरङ्गजे ! । न त्रपा कुलमालिन्यं परलोक क्षतिर्नहि ॥ २३९ ॥

अर्थ—पहले भी मल्लि नेमिसे रहित सब तीर्थंकरों ने ऐसा विवाह सम्बन्धी उत्सव किया है कि साधारण मनुष्य उसको मुश्किल से पाते है ॥२३८॥ हे बेटी ! इस में न तो पाप है. न यशकी हानि है. न लज्जा है. न कुल के उपर कलंक है और न परलोकमें हानि है ॥२३९॥

कृतेऽस्मिन्संतति प्राप्तिः पाणिपीडनकर्मणि । भर्तुः सुखं धनावाप्तिः सौभाग्यं शीलमुज्ज्वलम् ॥२४०॥
अतो वचोऽन्यथा कर्तुं नार्हं वत्से ! ममानघे ! । कृत्वोद्वाहं पतिम्प्राप्य वरं भुंक्ष्वैहिकं सुखम् ॥२४१॥

अर्थ—देख ! बेटी विवाह से संतान होती है, स्वामी का सुख मिलता है, धन मिलता है, सौभाग्य बढता है और शील उज्ज्वल रहता है । इसलिये मेरे वचन को उलटा करना योग्य नहीं। हे मेरी निष्पापे ! बेटी! मेरे वचन को स्वीकार कर सादी द्वारा पति को पाकर श्रेष्ठ ऐहिक सुख का भोग प्राप्त कर ॥ २४० ॥ २४१ ॥

चेदत्र कोऽपि दोषोऽस्ति तन्मां कथय सत्वरम् । सुताथजननीम्प्राह श्रूयतां कथनं मम ॥२४२॥
ममाभीष्टो वरो नास्ति सर्वश्रीरूपसंयुतः। रूपवान् सत्वशाली च सर्वश्रुतविशारदः ॥२४३॥

अर्थ—अगर इस में कोई दोष हो तो तूं मुझे कह दे । माता की बातें सुन लडकी ने कहा । हे माता ! मेरी बात सुनिये । इस समय मेरे योग्य-यानि मनोवांछित रुपवाला, ऐश्वर्ययुक्त पराक्रमी, सर्वशास्त्र विशारद और सर्व गुणों से सम्पन्न ऐसा मनोहर वर नहीं है ॥ २४२ ॥ २४३ ॥

द्यूतादिव्यसनैस्त्यक्तो विरतः परयोषितः । उपकारी कलाशाली विक्रमो विदत्तो भुवि ॥२४४॥
सौभाग्यकलितो भाग्यालङ्कृतो नयनामृतः । विनयादिगुणधारो बुद्धिनिर्जितभार्गवः ॥२४५॥

अर्थ—जूआ आदि सात व्यसनों से रहित हो, परस्त्रीयों में विरक्त हो, उपकारी हो, सर्व कला का जानकार हो, और जगत में प्रसिद्ध पराक्रमी हो और सौभाग्य सम्पन्न हो, भाग्य से विभूषित हो, जिसकी आंख में अमृत हो, तथा

विनयादि गुणों का आधार हो. और बुद्धि से शुक्र को भी जीतलिया हो ॥ २४४ ॥ २४५ ॥

स्नेहवान् स्वर्नदीनीरपूरनिर्मलमानसः । अतोऽम्ब ! रोचते मह्यं कोऽपि न चापरो वरः ॥ २४६ ॥
कान्तं कान्तं मनोभीष्टं द्रक्ष्याम्यम्ब ! कदापि चेत् । तदाहं परिणेष्यामि नान्यथास्मिन् भवे ननु ॥२४७॥

अर्थ—और स्नेही हो. और गंगा के जल के समान स्वच्छ मनवाला वर मुझे रूचता है. हे अम्ब ! इतने गुणों से रहित कोई भी वर मुझे प्रिय नहीं है ॥२४६॥ हे अम्ब ! मनोनुकूल एवं मनोहर पति को जब कभी मै देखूंगी तब विवाह करलूंगी । अन्यथा इस भव में नहीं, यह निश्चय समझो ॥ २४७ ॥

सच्छीलं पालयिष्यामि साऽहं जिनवराज्ञया । अहंशुचिर्भविष्यामि करिष्ये विमलं कुलम् ॥ २४८ ॥
वरार्थं न पुनर्वाच्यं जनकेन त्वयापि मे । यदेप्सितवरप्राप्तिस्तदोद्वाहोऽन्यथा नहि ॥ २४९ ॥

अर्थ—मै जिनेश्वर देव की आज्ञा के साथ निर्मल शीलव्रत का पालन करुंगी. तथा स्वयं पवित्र बनूंगी और कुल को भी पवित्र करुंगी ॥ २४८ ॥ हे अम्ब ! वर के लिये मुझे अब कभी नही कहना. और पिताजी से भी नही कहने देना, जब मनोभिलषित वर मिल जायगा तब विवाह हो जायगा । अन्यथा नहीं ॥ २४९ ॥

सानरेशप्रियोत्तस्थौ स्मरन्ती पुत्रिकावचः । तच्छुभोदन्तवृत्तान्तं निजभर्त्रेन्यवेदयत् ॥२५० ॥

अर्थ—वह राजराणी लडकी की बातें सुनकर उठ गई और अपने पति को लडकी के शुभ समाचार कह सुनाये ॥

राजा तत्पुत्रीकावृत्तं ज्ञात्वाहृदि पुराद्बहिः । एकमुत्तुङ्गभवनं पुत्र्यै विधाय दत्तवान् ॥ २५१ ॥

अर्थ—बेटी की सब बातें हृदय में समझकर गांव के बहार एक बहुत उंच्चा सुन्दर मकान बनवाकर राजा ने लडकी को दे दिया ॥ २५१ ॥

राज्ञा पुत्रीं समाहूयेत्युक्तं पुत्रि ! निशम्यताम् । त्वत्कृतेनगरासन्ने गेहं निर्मापितं मया ॥२५२॥

अर्थ—राजाने लडकी को बुलाकर के कहा कि हे पुत्रि ! सुनो. तुम्हारे लिये नगर के पास ही में एक घर बनवा दिया है

तत्रस्थिताऽशयाभीष्टं नरं कश्चिन्निरीक्ष्य । यथोद्वाहं वयं कुर्मः तेन सार्धं तवाज्ञया ॥२५३॥

तयापि तत्तथेत्युक्त्वा तातस्य वचनं कृतम् । आरभ्य तद्दिनात्तत्र गेहे तिष्ठति साऽनिशम् ॥२५४॥

अर्थ—तूं वहां बैठकर अपने मनोनुकूल पति की खोज कर. फिर उस के साथ तेरी आज्ञानुसार विवाह कर दूंगा ॥ पिताजीके वचन सुनकर रत्ननीवलीने कहा हि जैसी पिताजी की आज्ञा. पिताजीके वचनानुसार उसी दिन से नगर के बहार के मकान मे आनंदसे रहने लगी ॥२५४॥

नृपानुचरवर्गस्तु तिष्ठेद्बहिरितस्ततः । रक्षार्थं भूधवादेशाद् गृहान्तर्वसति स्म सा ॥ २५५ ॥

अर्थ–राजा के आदेश से रत्नावली उस मकान में रहने लगी. और राजा के आदेशानुसार सेवक उनकी रक्षाके लिये उसी मकान के बहार ईधर ऊधर रहने लगे ॥२५५॥

शास्त्राभ्यासाद् विविध विदुषां चित्तमाल्हादयन्ती गीतेर्गानादभिमतसखीवर्गमुल्लासयन्ती ।
पद्मापुत्रं सुरभिकुसुमैर्नित्यमभ्यर्चयन्ती चेतः शुद्धिप्रदमनुपमं मन्त्रमाराधयन्ती ॥ २५६ ॥

गेहान्तः स्वपरिचितसखी लोकमालापयन्ती नित्यं हर्षान्मधुरवचनां सारिकां क्रीडयन्ती।
देशायानभिनवनरान् सर्वदा लोकयन्ती किञ्चित्कालं रमयतिमनोऽभीष्टमासादयन्ती ॥ २५७ ॥

अर्थ-अनेक पंडितोंकी शास्त्रचर्चा से चित्त को खुश करती हुई, गीतों के गायन से अपनी प्रिय सखी सहेलियों को प्रमुदित करती हुई, मुनिसुव्रत स्वामी की सुन्दर सुगंधित पुष्पों द्वारा पूजा करती हुई, चितको विशुद्ध करनेवाला अनुपम फलको देनेवाला श्री नमस्कार महामन्त्रकी आराधना करती हुई घरके अन्दर रही हुई परिचित सखियों को बुलाती हुई, मीठी बोली से बोलनेवाली मेना के साथ खेलती हुई और नये नये विदेशी यात्रिको को हमेशां देखती हुई, मनोवाछित को प्राप्त करती हुई रत्नावली आनंद से कुछ समय व्यतीत करने लगी ॥२५५॥ ॥२५७॥

इति श्री हंसराज वत्सराज कथायां रत्नावली सम्बन्ध वर्णनो नाम तृतीयः सर्गः ॥

श्री हिमाचलान्तेवासि-मुमुक्षु भव्यानंदविजय कृत हिन्दी भाषानुवाद श्री हंसराज वत्सराज कथान्तर्गत रत्नावली सम्बन्ध वर्णन नामक तीसरा सर्ग समाप्त हुआ।

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

卐 इति तृतीयः सर्गः 卐

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

॥ अथ चतुर्थः सर्गः ॥

अथैकदा तयादर्शि नरस्तुरगरक्षकः। गोपवेषधरो यष्टिं कम्बलं कृष्णमुद्वहन् ॥ १ ॥
दृष्ट्वा तं सुन्दराकारं मनस्तस्या तु चुक्षुभे। आकारितोनिजां दासीं प्रेष्य सद्यस्तया तदा ॥२॥

अर्थ—एक समय गोवालिये के वेष में काली कम्बल एवं लकडी धारण कर घोडों को चराते हुए एक पुरुष रत्नावली के देखने में आया ॥ १ ॥ सुन्दर आकृति सम्पन्न उसको देख कर रत्नावली का मन आसक्त हो गया और अपनी दासी को भेज कर उसे अपने मकान में बुलवाया ॥ २ ॥

सोऽप्याजगाम तद्गेहं तयाऽप्यानायितोऽन्तरा। अतीवासन्नमाहूय पृष्टस्तव कुलं वद ॥ ३ ॥

अर्थ—दासी के द्वारा आया हुआ गोवालियाको मकान के अन्दर एवं बहुत नजदीक बुलाकर रत्नावली ने पूछा कि तेरा कुल कौन है? बोल ॥ ३ ॥

सोऽप्याह मे कुलंसर्वः कोऽपि वेत्ति किमुच्यते। तथापि वच्म्यहं तावद् राजपुत्रि! तवाग्रतः ॥४॥
गोपोऽहं सोमदत्तस्य त्रम्बावतीनिवासिनः। मत्स्वामिनाऽधुनावाहरक्षणार्थं नियोजितः ॥६॥

अर्थ—हे राजपुत्रि! मेरा कुल सब कोई जानते है, फिर भी तेरे सामने में कहता हूं ॥ ४ ॥ त्रम्बावती नगरी में रहनेवाला सोमदत्त शेठ का मैं नोकर हूं. मेरे मालिकने मुझे अभी घोडों की सेवा करने के लिये आज्ञा दी है ॥ ५ ॥

साथाह ते कुलं वेद्मि शीतांशुकरनिर्मलम्। अथवा मेऽस्तुभाग्येन यादृशं तादृशं कुलम् ॥६॥

निवेदयामि ते गोप्यां किंवदन्तीं कुलोचिताम्। प्रकाश्या नैव कस्याग्रे कथेयं भवता ननु ॥ ७ ॥

अर्थ—उसके वचन सुन कर रत्नावली ने कहा कि चन्द्रमा के समान निर्मल कुल को मैं जानती हूं। अथवा मेरे भाग्य से जैसा तैसा कुल हो ॥ ६ ॥ यद्यपि कुल के उचित बातें गोपनीय है फिर भी मैं तुम को कहती हूं परन्तु तुम किसी के सामने कभीभी मत कहना ॥ ७ ॥

मदाक्षेपेण मद्वसा स स्वयंवरमण्डपम्। अद्यकल्ये मनोहारिन्! मनोहरं करिष्यति ॥ ८ ॥

आयास्यन्ति नृपामात्यपुत्रा इभ्यतनूरुहाः। आगन्तव्यं त्वया तत्र गोपालवेषधारिणा ॥ ९ ॥

अर्थ—हे मनोहारिन्! मेरे लिये पिताश्रीजी स्वयंवर मण्डपकी सुन्दर रचना आज कल करेगें ॥ ८ ॥ वहा पर राजपुत्र, मन्त्रिपुत्र एवं बडे बडे साहूकार के पुत्र आवेगें उस समय तूं भी गोपालक का वेष धारण कर के आजाना ॥९॥

अहं क्षेप्स्यामि ते कंठे मालामन्यदुरासदाम्। अस्मिञ्जन्मनिकान्तस्त्वं नान्यथाऽवेहि मद्वचः ॥१०॥

अर्थ—दूसरो से अप्राप्य माला तेरे गला में डाल दूंगी। इस जन्म में तूं मेरे स्वामी हो, मेरा वचन झूठा नही होगा। यह निश्चय समझो ॥ १० ॥

तेनोक्त ग्रथिलीभूय माबचोब्रूहि निष्फलम्। क्वगोपालो वराकोऽहं कुत्र त्वं नृपनन्दिनी ॥ ११ ॥

अर्थ—उत्तर में उसने कहा कि पगली की जैसी व्यर्थ मत बोलो, कहां मैं दीन गोवालिया और कहां तूं राजा की लडकी ?

मौनं विधेहि हे बाले! त्यज बालोचितं स्मितम्। शृणोत्ययं सखीवर्गः कोऽपि श्रोष्यति चापरः ॥१२॥

अर्थ—हे बाले ! चुप हो जाओ. बचपन के हास्य को छोडो. क्योंकि तुम्हारी सखी सहेलियां सुन रही है और भी कोई सुन लेगा ॥ १२ ॥

नृपाङ्गजा पुनः प्राह स्मितं कुर्वे कदापि न । मदुक्तं सत्यमेवेति जानीहि सुभगाकृते ! ॥१३॥
इत्युक्त्वा शपथान्कृत्वा प्रेषितो गद्गदाक्षरम् । लज्जयाधोमुखीभूय गोपस्तया निकेतने ॥१४॥

अर्थ—फिर से रत्नावलीने कहा. हे सुन्दर ! मैं कभी भी हास्य नहीं करती हूं. मेरी बात तुम सत्य समझो ॥१३॥ ऐसा गद्गद् वाणी में कहने के बाद शपथ ग्रहण करती हुई, रत्नावली ने लज्जा से नीचा मुख कर के विनम्र गोवालिये को अपने स्थान पर भेज दिया ॥ १४ ॥

तयाथ तातमाहूय निर्दिष्टमिति हे पितः ! । इष्ट देवतयाऽदेशो दत्तोऽस्तीदृग्विधो मम ॥१५॥
स्वयम्वरे कृते भावी मनीषितोधवस्तव । इति विज्ञाय सामग्रीं मण्डपार्थं कुरू द्रुतम् ॥१६॥

अर्थ—इधर रत्नावली ने अपने पिताजी को बुला करके कहा कि हे पिताजी ! इष्ट देवताने मुझे ऐसा आदेश दिया है कि स्वयम्वर मंडप की रचना करने पर तुम को मनोवांछित पति मिल जायगा । अब आप ऐसा समझकर स्वयंवर मण्डप के लिये जल्दी तैयारी कीजिये ॥ १५ ॥ १६ ॥

मण्डपं कारयित्वेभ्यभूपमंत्रिकुमारकान् । निमन्त्र्यानाय्य दूतेभ्यो मन्मतोऽभिमतं कुरु ॥१७॥
उक्त्वेत्थं विरतायां तु तस्यां नृपतिरब्रवीत् । मन्येऽहं धन्यमात्मानं चेदयन्ते मनोरथः ॥१९॥

अर्थ—रत्नावलीके द्वारपालिकाने राजकुमारो के वंश कुल आचार वैभव सम्पदा राज्यभोग और सुख आदिका अलग जलग विवरण कह सुनाया ॥३५॥ जैसे कमलिनी सूर्यको छोडकर ताराओ को नहीं देखती है वैसे ही विशाल नेत्रवाली रत्नावली ने राजकुमारों को दृष्टिसे भी नही देखा ॥३६॥

दृष्ट्वा विजनकोणस्थं तं गोपं मुमुदे च सा। विचिक्षेप वरां मालां तत्कण्ठे त्वरितं स्वयम् ॥३७॥

अर्थ—जनरहित एकान्त कोणेमें बैठा हुआ गोपवेषधारी वत्सराज को देखकर हर्षित हृदय से रत्नावली ने शीघ्र वरमाला उसे पहना दी ॥३७॥

चुकोप राजवर्गस्तु कोपताम्रेक्षणाननः। निन्दितं त समालोक्य तां रूपनिर्जितोर्वशीम् ॥३८॥

अवदंस्तेऽपि रेगोप! गृहीत्वेमां क्वयास्यसि। गोपो जगाद भो भूपाः! शृण्वन्तु मद्वचः क्षणम् ॥३९॥

अर्थ—निन्दनीय उस गोपको देखकर के क्रोध से मुख और आखे लाल करके राजकुमार अप्सराके रूपको जितनेवाली रत्नावली के उपर क्रोध से उमड आये और बोले अरे गोप! इसको लेकर के तू कहा जायगा! प्रत्युत्तर में गोपने कहा कि हे राजाओ! एक क्षणभर मेरी बात सुन लीजिये ॥३८॥ ॥३९॥

भवतामपराद्धं किं येन सर्वेऽपि कुप्यथ। पुण्येनासाद्यते सर्वं जायापुत्रधनादिकम् ॥४०॥

अहन्तु पुण्यवानस्मि यूयं निःपुण्यका यतः। अहं वृतोऽनयाऽकस्माद् यूयं दृष्टचापि नेक्षितः ॥४१॥

अर्थ—आपका मैंने क्या अपराध किया? जिससे आप सब क्रोधित हो गये है. संसारमें लोग अपने२ पुण्य के बलपर

अर्थ—मण्डप बनवाकर राजपुत्र, मंत्रिपुत्र और साहुकार के पुत्रों को दूत के द्वारा आमंत्रण पूर्वक बुलवा कर मेरे इच्छित कार्य को पूरा करो। एसा कहकर रत्नावली चूप हो गई. उतर में राजा ने कहा कि यदि तेरा ऐसा सुन्दर मनोरथ है तो मैं अपने को धन्य मानता हूं ॥ १७ ॥ १८ ॥

पुरुषद्वेषिणी कन्या ताम्रचूडस्यभूपतेः। इत्यपवादभीतस्य निषेधय ममायशः ॥१९॥

अर्थ—क्यों कि ताम्रचूड राजा की लडकी पुरुष से द्वेष करती है. ऐसा अपवाद मेरा फैल गया है इसलिये इस अपवाद रुप अपयश को शीघ्र मिटाओ ॥ १९ ॥

गृहं गत्वाऽधुना पुत्रि! स्वयम्वरोचितं वरम्। मण्डपं कारयित्वेभ्यक्षितिपामात्यनन्दनान् ॥२०॥
स्वयमामन्त्रयिष्यामि स्वयंवराय च द्रुतम्। अस्मिन्कार्ये न कर्त्तव्या विलम्बजा त्वयाऽरतिः ॥२१॥

अर्थ—हे बेटी! मैं अभी घर जाकर स्वयम्वर के लिये सुन्दर मण्डप बनवाकर सब को आमंत्रण भेज दुंगा। कदाच इस कार्य में बिलम्ब हो जाय तो भी दुःख पैदा मत करना। मैं जल्दी करुंगा ॥ २० ॥ २१ ॥

आगत्य स्वालयं भूपः समाहूयानुयायिनः। स्वानादिदेश भोः! गत्वा निर्विलम्बं बहिः पुरात् ॥२२॥
क्षेत्रप्रमितां भूमिं समीकृत्य प्रमार्ज्य च। स्फोटयित्वा रजः पुञ्जमभिषिच्य ततोऽम्बुभिः ॥२३॥
चिताल्हादकमत्युच्चं नानावितानमण्डितम्। निर्माप्य मण्डपं चारु ममाग्रतो निवेद्यताम् ॥२४॥

अर्थ—अपने महल में जाकर के राजाने अपने अनुचरों को आदेश दिया कि तुम सब नगर के बहार जाकर के एक

स्त्री पुत्र और धन आदि पाते है मैं भी पुण्यवान हूं आप सब पुण्यहीण है। क्योंकि आपको इसने दृष्टिसे भी नहीं देखा, और मुझे अकस्मात् वरमाला पहनाकर वर बना दिया ॥४०॥ ॥४१॥

इयं नालोकिता पूर्वं न श्रुता नैव शिक्षिता। आलापिता न नाहूता मया न विप्रतारिता ॥४२॥

अत्र मे नैव दोषोऽस्ति दोषः प्राक्तन कर्मणः। कान्तेयं हेलया प्राप्ता मयाऽयासं विना यतः ॥४३॥

अर्थ—मैंने इसको कभी नही देखा, न नाम सुना, न कुछ पढायी, न कभी बुलायी, न कभी बोला, और न कभी फुसलायी, इस में मेरा कोंई दोष नही है–अगर दोष है तो पूर्व कर्मोंका। क्योंकि मैंने तो इस प्रिया को शीघ्र विना प्रयास ही प्राप्त की है ॥४२॥ ॥४३॥

जगाद नृपवर्गोऽथ यद्यसि त्वं बली भृशम्। असिमादाय रे! युद्धं कुरुष्व मा विलम्बय ॥४४॥

अर्थ—इसके उत्तर में राजकुमारोंने कहाकि यदि तू खूब बलवान है तो तलवार लेकर के विना विलम्ब युद्ध करनेमें तैयार हो जाओ ॥ ४४ ॥

इत्युक्त्वाऽवसरेतस्मिंस्ते तत्तातेन वारिताः। परीक्षां कर्तुकामोऽस्मि भो राजन्या विलम्ब्यताम् ॥४५॥

देवताधिष्ठितस्त्वेकः कोशेऽर्वा मम वर्तते। तमारोढुं तु केनापि सामान्येन न शक्यते ॥४६॥

अर्थ—ऐसा कहते समय राजकुमारों को रत्नावली के पिताश्रीने रोक दिया और कहा कि राजकुमारों! कुछ समय ठहर जाईये मैं परीक्षा करनेवाला हूं. मेरे खजाने में देवता से अधिष्ठित एक सुन्दर घोडा है. उस पर कोइ सामान्य

व्यक्ति चढ नहीं सकता है ॥४५॥ ॥४६॥

एतेषां भवतां मध्ये मण्डपान्तर्निवासिनाम् । येनारुह्य पयःपानं कार्यतेऽश्वः समाधिना ॥४७॥
तस्मै कन्यां प्रदास्यामि मदीयां जीविताधिकाम् । युगान्तेऽपि हि नैव स्यात् प्रतिज्ञेयं ममान्यथा ॥४८॥

अर्थ—अगर इस मण्डप के अन्दर रहे हुए आप सबो में से जो कोइ भी व्यक्ति इस घोडे पर चढ करके पानी पीलाकर के शान्ति से ले आवेगा । उसको मेरे प्राणों से भी प्यारी लडकी दे दूंगा । इस कार्य में मेरी प्रतिज्ञा युग के अन्त में भी उलटी नहीं होगी ॥ ४७ ॥ ४८ ॥

राजाज्ञजैर्नृपाख्यातं श्रुत्वाथातिचमत्कृतैः । नृपकोशात्समाकृष्य सोऽप्यश्वस्तैर्निरीक्षितः ॥४९॥
तं दृष्ट्वा चकिताः केऽपि केऽपि दूरं पलायिनाः । चित्रन्यस्ता इवाभूवन् वासवाश्वविजित्वरम् ॥५०॥

अर्थ—राजा की प्रतिज्ञा के साथ परीक्षा की वातें सुन कर अति चमत्कारी राजकुमारों ने खजाने से घोडे को मंगवा कर देखना शुरु किया. इन्द्र के घोडे को जीतनेवाला उस घोडे को देखते २ कितने ही आश्चर्य में पड गये. कितने ही दूर भाग गये. और कितने ही चित्रामण की तरह अचल–स्थिर होगये ॥ ४९ ॥ ५० ॥

तैरुक्तं भूपते ! नायमश्व आरोहणोचितः । त्रिसन्ध्यमर्चनीयोऽयं नीराजनक्रियोचितः ॥५१॥

अर्थ—राजकुमारो ने कहा कि हे राजन् ! यह घोडा चढने योग्य नहीं है. यह तो केवल त्रिकाल आरती के साथ पूजा करने के योग्य है ॥ ५१ ॥

ईदृग्विधोऽस्ति तुरगो हरेर्गेहेऽपि नापरः। उच्चैःश्रवसमवंन्तं विनैकं तेजसां निधिम् ॥५२॥
ससैववाजिनः संति खगस्य सवितूरथे। न जायतेऽष्टमाद्यासिरद्यापि भ्रमतोऽनिशम् ॥५३॥

अर्थ—ऐसा तेजका खजाना एक उच्चैः श्रवा (इन्द्र घोडा) के सामान इस घोडे के बिना दूसरा घोडा विष्णु के घर में भी नहीं है॥ ५२ ॥ और आकाश में विहार करने वाले सूर्यके भी घोडे सात ही है. हमेश भ्रमण करने पर भी आज पर्यन्त आठवा घोडा नही हुआ है ॥ ५३ ॥

त्वया नृप! कुतोऽवास आकरस्तु निवेद्यताम्। इति पृष्ठे नृपोऽवादीच्छ्रूयतामस्ति वेदितम् ॥५४॥

अर्थ—हे राजन्! इस घोडे को आप कहासे लाये ? रहस्य बता दीजिये न ? एसा पूछने पर राजाने कहा कि राजकुमारो! ज्ञातव्य बातें मेरे से सुनो ॥ ५४ ॥

आराधितामया गोत्रदेवताऽतीव भक्तितः। उवाच सापि तुष्टास्मि वद भूप! ददामि किम् ॥५५॥
मयोक्तं चेत्प्रसन्नासि देहि प्रत्यार्थिना जयम्। यथा देवि? प्रसादात्ते सुखं तिष्ठामि सर्वदा ॥५६॥

अर्थ—मैंने पूर्ण भक्ति पूर्वक गोत्र देवता की आराधना की, उस पर उसने कहा कि हे राजन्! मैं तेरे उपर खुश हूं. बोल क्या दूं. ? ॥ ५५ ॥ उत्तर में मैंने कहा कि देवि! यदि तूं खुश है तो शत्रु से जय प्राप्त करुं, और सर्वदा तेरी कृपा से सुखी रहुं. ऐसा वरदान मुझे दे ॥ ५६ ॥

अथ देवतया प्रोचे तव भाग्यात्सुपोतकम्। सुवर्णद्वीपतश्चैकमत्रैष्यति कियद्दिनैः ॥५७॥

तन्मध्ये संति वस्तूनि वाजिनस्त्वेकविंशतिः। शुक्रमण्डपिकायां ते हेमलक्षं समेष्यति ॥५८॥
यः कोऽपि वाजिनां मध्ये हरिः स्यात्तेजसां निधिः। लक्षसुवर्णप्रदानेन ग्राह्यश्चैकस्त्वया हि सः ॥५९॥

अर्थ—देवता ने कहा कि तेरे भाग्य से सुवर्ण द्वीप से कितने ही दिन पर एक जहाज आवेगा। उस में बहुतसी चीजें है और एकीश घोडे भी है वे घोडे तेरे बाजार में सुवर्ण के समान आवेंगे। उसमें से एक घोडा तेजका खजाना रूप दीखे वह लाख सोनैया से तूं खरीद लेना ॥ ५७ ॥ ५८ ॥ ५९ ॥

आनीय निजकोशान्तः स्थाप्यः पूज्यश्च सन्ततम्। नीराजनाऽपि कर्त्तव्या त्रिकालं विधिना त्वया ॥६०॥
अस्मिन्नाराध्यमाने तु सकलस्ते द्विषद्गणः। हारिमाप्स्यति संग्रामे भवाञ्जयमवाप्स्यति ॥६१॥

अर्थ—उस घोडे को अपने महल में रखकर हमेश पूजा करो. और त्रिकाल विधि पूर्वक आरति उतारो। इसकी आराधना करने पर तेरे सब शत्रु लडाई में हार जायेगें। और तुम्हारी सर्वत्र विजय होगी ॥ ६० ॥ ६१ ॥

ऋते भवन्तमथवा द्वात्रिंशल्लक्षणान्वितम्। कुलीनं भाग्यबलिनं धीरं शूरशिरोमणिम् ॥६२॥
दोषैर्निराकृतं सर्वैर्गुणालङ्कृतविग्रहम्। हयो नारोहणियोऽयं केनापि सुनरं विना ॥६३॥

अर्थ—आप के अलावा वतीश लक्षण से युक्त कुलीन भाग्यवान धीर शूर शिरोमणि. सर्व दोषों से रहित और गुणों से विभूषित अच्छे मनुष्य के विना कोई भी दूसरा इस घोडे पर चढ नहीं सकता ॥ ६२ ॥ ६३ ॥

समारोक्ष्यति चेत्काश्चित्परो निर्भाग्यशेखरः। हयरत्नं कदाप्येनममूल्यं मदधिष्ठितम् ॥६४॥

मृत्युमाप्स्यति सोऽकस्माद् बलिष्ठोऽपि हि मानवः। उक्त्वेत्याश्वास्य मां सम्यक् सत्वरं देवता गता ॥६५॥

अर्थ—अगर कभी भाग्य रहित कोइ व्यक्ति मेरे अधिकार में रहा हुआ अमूल्य इस घोडे पर चढ गया तो किताना ही बलवान व्यक्ति होने पर भी अचानक मर जायगा ! ऐसा आश्वासन पूर्वक मुझे कह करके देवता चला गया ॥ ६४ ॥

पोतमप्यागतं तत्र गृहीतस्तुरगो मया। तद्दिनान्मद्गेहे वाजी त्रिसन्ध्यमपि पूज्यते ॥६६॥

भो! भो ? नृपसुताः? एवं ज्ञात्वायमधिरुह्यते। येन केनाप्यहं तस्मै कन्यां ददामि नान्यथा ॥६७॥

अर्थ—देवता के वचनानुसार जहाज भी आगया, घोडे को खरीद लिया, उसी दिन से इस घोडे की त्रिकाल पूजा की जाती है। हे हे राजकुमारों ! इस घोडे के महात्म्य को समझ कर जो कोइ इस घोडे पर चढेगा उस को मैं अपनी लडकी दे दूंगा। यह बात निश्चय समझो ॥ ६६ ॥ ६७ ॥

तस्मिन्काले नृपाः सर्वे लज्जयाधोमुखाः स्थिताः। तदानीं नृपतीनूचे गोपः संयोजिताञ्जलिः ॥६८॥

यथादिशथ तत्कुर्वे तुरगारोहणोद्यमम्। जजल्पुस्तेऽथ माब्रूहि त्वं महान्ति वचांस्यहो !॥६९॥

अर्थ—उस समय राजकुमार सब लज्जा से अपने अपने मुख को नीचा कर बैठ गये। इतने मे गवालियेका वेष धारी वत्सराज हाथ जोड राजाजी को कहने लगा। यदि आप का आदेश हो तो मैं घोडे पर चढने का प्रयत्न करुं ? प्रत्युत्तर में उन्होंने कहा कि अरे मूर्ख ! ऐसी लम्बी चोडी बातें मत कर ॥ ६८ ॥ ६९ ॥

त्वद्वाजिराजिसदृशं मा मंस्था तुरगं त्वमुम्। ज्ञास्यसि त्वं क्रमात्सर्वं चेदुक्तं पालयिष्यसि ॥७०॥

अस्मिन्कर्मणि दक्षोऽसि यद्यप्यनुभवात्सदा । कार्य्यं तथापि कर्तव्यं गेहे नर्दिन्! विमृश्यच ॥७१॥

अर्थ—तेरे घोडे के समान इस को मत समझो. अपने कहे हुए वचन का पालन करोगे तब सब मालूम हो जायगा। अरे घर में गर्जनेवाला ! यद्यपि इस कार्य में हमेश के अभ्यास से तेरी दक्षता है, फिर भी बिचार कर के कार्य करना॥

इत्यादिविवदन्तस्ते ताम्रचूडेन वारिताः । शक्तिर्यद्यस्ति कस्यापि तर्हि स्थेयं विमृश्य न ॥७२॥

अर्थ—इस तरह परस्पर विवादित कुमारों कों राजाने रोक दिया और कहा कि यदि किसी की भी शक्ति हो तो विना विचारे ही घोडे पर चढ जाओ ॥ ७२ ॥

राज्ञोवचस्तदाकर्ण्य स गोपो निर्गतो बहिः । तुरङ्गं तं समारुह्य चाक्रम्य कियतीं भुवम् ॥७३॥
सरो गत्वाम्भसावाहमाश्वास्यमण्डपान्तरम् । परमेष्ठिस्मृतेः सद्यो निर्विघ्नमाययौ स्वयम् ॥७४॥

अर्थ—राजा के वचन सुनते ही गोप वत्सराज बहार जाकर घोडे पर चढते ही कितने ही दूर भूमि में घूमा कर के तालावके पास ले जाकर जलसे संतुष्ट करके, नमस्कार महामंत्रके स्मरणसे शान्ति पूर्वक स्वयम्वर मण्डपमें वापिस आ गया॥

तत्रागतानां भूपानां साक्षिकं तनुजा निजा । भूपनोद्वाहयामासे तेन सार्धं महोत्सवम् ॥७५॥
सर्वानावर्ज्यभूपांस्तान् क्षौमाश्ववसनादिभिः । विसर्जिताः कनीपित्रा ययुस्ते स्वं च निवृत्तिम् ॥७६॥

अर्थ—उस के मण्डप में आजाने के बाद सब राजाओं के समक्ष ताम्रचूड राजाने अपनी बेटी रत्नावली का विवाह उस वत्सराज के साथ सानंद कर दिया और वहां बैठे हुए राजाओंको रेशमी कपडे घोडे आदि पारितोषिक देकर के विदा

किये, और वे भी प्रसन्न चित्त से अपने अपने देश चले गये ॥ ७५ ॥ ७६ ॥

भूपेन निजजामातुः पाणिमोचनकर्मणि । अस्ति किमपि तद्वस्तु भुवि यन्न ददे तदा ॥७७॥

पृथक् सौधे च जामाता तस्थिवान् श्वसुराज्ञया । सततं जायया साकं भुंक्ते विषयजं सुखम् ॥७८॥

अर्थ—राजाने कर मोचन के समय अपने जमाई को, संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो कि नहीं दी अर्थात् सब कुछ दे दिया ॥ ७७ ॥ श्वसुर की आज्ञा से जमाई वत्सराज अलग मकान में ठहर गया, और अपनी स्त्री के साथ निरन्तर सांसारिक सुखों का उपभोग करने लगा ॥ ७८ ॥

निजं जामातरं भूपोऽन्यदा चापृच्छदन्वयम् । नृपतेः पुरतः सोऽपि यथातथमचीकथत् ॥७९॥

अर्थ—एक दिन राजाने जमाई से वंश पूछा, प्रत्युत्तर में वत्सराजने भी राजा के सामने ठीक ठीक सब बातें कह सुनाई

हंसराजानुजः सोमदत्तवृत्तं विदन्नपिः । सौजन्येन नृपस्याग्रे न जजल्प कदाचन ॥८०॥

अर्थ—सोमदत्त की कहानी तथा हंसराज का भाई हूं इत्यादि जानता हुआ भी वत्सराजने अपनी सज्जनता के नाते राजा को नहीं कहा ॥ ८० ॥

एकदा वत्सराजेनाहूतः सोमः समाययौ । आलापितः पुनस्तेन श्रेष्ठिन्न दृश्यसे कथं ॥८१॥

अर्थ—एक दिन वत्सराज के बुलाने पर सोमदत्त आया, फिर वत्सराजने कहा कि हे श्रेष्ठिन्! क्यों नहीं दिखाई देते हो ?

त्वद्योहित्थसमारूढोऽत्रायातोऽहं पुरात्ततः । निर्वाहितोऽद्य यावच्चाशनचेलादिदानतः ॥८२॥

तवानुग्रहतो जातो मदुद्वाहोऽधुना तथा। यथा विश्वजनो वेत्ति किमहं वच्मि ते पुरः ॥८३॥

अर्थ—तेरे जहाज पर चढ कर के मैं उस नगर से यहां आया हूं. और तूं ने आज दिन तक मेरा अन्न वस्त्र देकर के निर्वाह किया ॥४२॥ और तेरी अनुकम्पासे मेरा विवाह भी इस समय हो चूका, और विश्वभरके लोक जैसे जानते है वैसे मैं आप के सामने क्या कहूं ? ॥ ८३ ॥

उपकार्य्यसि सर्वेषां प्रकृत्या श्रेष्ठिपुंगवः। परमेवमहं मन्ये वात्सल्यं मयि तेऽधिकम् ॥८४॥

अर्थ—हे श्रेष्ठ ! आप स्वभावसे ही सबके उपकारी है. परन्तु मैं एसा मानता हूं कि मेरे उपर तो आपका अधिक प्रेम है॥

मनसापि न भेतव्यं वयस्ये मयि सत्यपि। अस्मदन्वयजातानामुपकारे स्थिरा मतिः ॥८५॥

अर्थ—मेरे रहने से या मेरे कोई मित्र रहने पर आप मन से भी न डरें। चूंकि मेरे वंश परम्पराओं में हमेशा उपकारमयी स्थिर बुद्धि ही रहती है ॥ ८५ ॥

आगमिष्यामि ते सार्थं यदेतरत्वं प्रयास्यसि। त्वां विनाहं विदेशेऽत्र स्थितोऽपि विदधामि किम् ॥

अर्थ—जब तुम यहां से जाओगे तब मैं भी तेरे साथ आउंगा, वरना तेरे विना इस विदेश में रहुंगा भी तो क्या करुंगा !

ईत्थमाकर्ण्य तद्वाक्यं सोमदत्तोऽप्यवाङ्मुखः। जगाद तं देव ! ते पादसेवकोऽस्मि कृपानिधे ? ॥८७॥

अर्थ—इस तरह वत्सराजके वचन सुन मौनी सोमदतने कहा हे देव ! हे कृपासागर ! मैं आपके चरणोंका उपासक हूं ॥

अस्मि त्वया सनाथोऽहं निश्चिन्तोऽनुग्रहात्तव। न जानाम्यस्तमुदितं विदेशेऽत्रापि भाग्यवान् ॥८८॥

एतदेव समीपे ते प्रार्थये सेवकप्रियः। नैव विस्मारणीयोऽहं चित्ते ज्ञात्वेत्ययं मम ॥८९॥

अर्थ—तुम से मैं सनाथ हूं. तेरे अनुग्रह से निश्चित हूं मैं उदय अस्तको भी नहीं जानता हूं. इश विदेश में भी भाग्यवान मैं हो हू मैं आपका सेवक तथा प्रिय हू. अतः आप से यही प्रार्थना करता हू कि यह सोमदत्त मेरा है. ऐसा मन मे समझ कर मुझे नही भूलना ॥ ८८ ॥ ८९ ॥

इत्युदीर्य्य गतो गेहे सोमदत्तो नृपाज्ञया। चित्ते चिन्तितवानेवमहं भाग्याधिको भृशम् ॥९०॥
असौ मद्गृहगोपालो जामाता भूभृतोऽभवन्। विभेति परमद्यापि मत्तस्तथैव कातरः ॥९१॥

अर्थ—ऐसा कह कर राजाकी आज्ञा पाकर सोमदत्त अपने घर चला गया और मन में सोचने लगा कि मैं खूब ही भाग्यवान हू, चूंकि यह मेरे घरमें गोप था. परन्तु राजाके जमाई होने पर भी मेरेसे पहलेकी तरह डरा हुआ रहता है ॥

अन्यथायं कथं मह्यं विनयं कुरुते यतः। अथवा कर्मयोगाच्च विषमप्यमृतायते ॥९२॥

अर्थ—अन्यथा यह मेरे साथ विनय क्यो करता? अथवा कर्मों के योग से विष भी अमृत समान हो जाता है ॥९२॥

अन्यदा वत्सरप्रान्ते कुमाराय प्रयाणकम्। निवेद्याथोक्तवान्श्रेष्ठी ताम्रचूडमिति प्रभुम् ॥९३॥
देवात्रत्वत्प्रसादेन वर्षमेकमहं स्थितः। द्रव्यमर्जितवान्स्वीये देशेऽस्मि गमनोत्सुकः ॥९४॥
आपृष्टोऽसि नरेश! त्वं कथनीयं ममोचितम्। कार्यमुत्तारणीयो न चेतसोऽहं कदाचन ॥९५॥

अर्थ—वर्ष के पूरा होने पर एक दिन सोमदत्त शेठने प्रयाण करने की वार्ते कुमार को कहकर राजाको भी कह

सुनाइ । हे प्रभो ! आप के अनुग्रह से एक वर्ष रहा. बहुत पैसा कमाया. अब घर जाने की भावना होगई है इसलिये हे राजन् ! मैने आपको पूछा है कि मेरे योग्य कुछ कार्य फरमाईये. और आप मुझे मन से भी कभी नहीं उतारे ॥९३॥९४॥

यावदुत्त्वेति तत्रास्ति श्रेष्ठी तावत्कुमारकः । आययौ नृपतिं नत्वोवाच विज्ञप्तिकामिमाम् ॥९६॥
देवास्यश्रेष्ठिनः सार्थं तवादेशात्स्वनीवृतिम् । यास्यामि पोतमारुह्य तातस्य दर्शनोत्सुकः ॥९७॥
यद्यप्ययं समीचीनो देशोऽयं नयनामृतम् । तथापि मन्मनः सोत्कं पित्रोः प्रणमनाय च ॥९८॥

अर्थ—इस प्रकार सोमदत्त कह कर के चूप होता है कि कुमार वहां पहुंच कर राजा को नमस्कार करके राजा से ही निवेदन करने लगा । हे देव ! इसी शेठ के साथ में मैं आप के आदेश से पिताजी के दर्शनार्थ जहाज पर चढ कर के जाना चाहता हूं । यद्यपि यह देश बहुत अच्छा है नयनों को सुखदात्ता है. फिर भी मेरा मन माता पिता को प्रणाम करने के लिये उत्कंठित हो रहा है ॥ ९६ ॥ ९७ ॥ ९८ ॥

जामातुर्वचनंश्रुत्वा दुःश्रवं श्वसुरोऽब्रवीत् । वत्स ! कुल्योऽसि दक्षोऽसि मदादेशं करोषि चेत् ॥९९॥
मा गाः कुत्रापि तर्हि त्वं मच्चक्षुः पारणं कुरु । देशायातं धनं भुंक्ष्व सौधे तिष्ठ सुखेन भोः ॥१००॥
अथवा गन्तुकामश्चेन्निषिद्धो नैव तिष्ठसि । सभार्योऽपि व्रजस्वीयं स्वेच्छया च निकेतनम् ॥१०१॥

अर्थ—जमाई के दुःश्रव वचन सुनकर के श्वसुरने कहा कि हे वत्स ! तुम अच्छे कुलवान् हो. और चतुर हो. अगर मेरी बात मानते हो तो कंही पर भी मत जाओ. मेरी नजर के सामने ही रहो. और सुख पूर्वक रहते हुए देशों से आये

हुए धन का उपभोग करो। अगर तुम्हारी इच्छा प्रबल जाने की ही है तो निषेध करने पर भी नही रहोगे। अतःअपनी स्त्री के साथ देश में सुख से जाओ ॥ ९९ ॥ १०० ॥ १०१ ॥

स्वपित्रोश्चरणाम्भोजपर्य्युपासनकौतुकी। वत्स! पूरय तत्रत्यस्वजनांश्च प्रमोदयन् ॥१०२॥
त्वत्कार्य्ये न करिष्येऽहमन्तरायं मनागपि। सर्वस्याभिमतः स्वीयदेशः स्यात्पितृवर्गवत् ॥१०३॥

अर्थ—हे वत्स! अपने माता पिता के चरणों की सेवा के अभिलाषी तुम वहां पर रहे हुए अपने कुटुम्बीजनों का हर्षपूर्वक भरण पोषण करो। मैं तुम्हारे कार्यमें कभी भी बाधा नही दूंगा। क्यों कि सब को पितृवर्ग की तरह अपना देश प्रिय होता है ॥ १०२ ॥ १०३ ॥

त्वत्सार्थेऽप्यङ्गजा मे वै पूज्यवर्गं नमस्यतु। कामिनी हि विना कान्तं राजते न कदाचन ॥१०४॥
प्रमाणं भवदादेश इत्याख्याय कुमारकः। सोमदत्तयुतो भूपप्रेरितः स्वां स्थितिं ययौ ॥१०५॥

अर्थ—इसलिये तुम्हारे साथ में मेरी लडकी भी पूज्य वर्गों को प्रणाम करेगी. और पति के विना स्त्री की शोभा भी नहीं ॥ कुमार श्वसुर के वचन सुनकर के बोला जैसी आपकी आज्ञा, ऐसा कह कर सोमदत्त के साथ कुमार चल पडा ॥

आस्थानमण्डपाद् भूप उत्थायान्तः पुरं निजम्। समेत्य प्रियया सार्धं विमृश्याह्वस्तपुत्रिकाम् ॥१०६॥
समायाता क्षणे तस्मिन् मुदिता नृपनंदिनी। लगित्वा पादयोस्तात माश्लिष्याम्बां ननाम च ॥१०७॥

अर्थ—सभा मण्डप से उठकर जनाने में जाकर के रानी के साथ विचार विनिमय पूर्वक राजाने लडकी को बुलाई।

उसी समय प्रसन्नता के साथ लडकी वहां आई. और माता पिता के साथ गले लगाकर प्रेमपूर्वक मिलजाने के बाद लडकीने उनके चरणों में पडकर प्रणाम किया ॥ १०६ ॥ १०७ ॥

नृपस्तामूचिवान् वत्से! गन्तुकामोऽस्ति ते प्रियः। कीदृशोत्वन्मनःश्रद्धा किं स्थास्यसि प्रयास्यसि ? ॥

अर्थ—राजाने कहा कि हे बेटी! तेरा पति जाने के लिये तैयार है. इसलिये तेरी क्या इच्छा है? उनके साथ जाओगी या रहोगी? ॥ १०८ ॥

आह सा तात! मा ब्रूहि न स्थास्यामि तवौकसि। सार्धं ममार्यपुत्रेण विदेशेऽपि विसर्जय ॥१०९॥

स्वदेशो हि विदेशोऽपि यत्र स्यात्प्रियसंगतिः। यत्र नो दयितावासिरलं तेनापि निवृता ॥११०॥

अर्थ—उत्तर में बेटीने कहा. हे तात! ऐसा मत बोलो. मैं आप के घर में नहीं रहुंगी. मेरे आर्य पुत्र के साथ विदेश में मुझे विदा करो ॥१०९॥ पति देव साथ में रहने से विदेश भी देश ही है और स्वदेश भी हो परन्तु वहां पति नही हैं तो स्वदेश भी विदेशके बराबर ही है ॥ ११० ॥

माभूयात्तद्दिनं तात! कामिनीनां कदापि हि। हृदयेशं विना यत्रावस्थितिः स्वेच्छया भवेत् ॥१११॥

सोदरस्य पितुर्मातु र्विरहश्चापि दुःसहः। प्राणेशस्य परं तातावलया नैव सह्यते ॥११२॥

अर्थ—हे तात! पति के विना अपनी इच्छा से जहां तहां रहना हो एसा दिन स्त्रीयों के लिये कभी नही हो ॥ माता पिता तथा भाइ का दुःसह विरह भी सहन हो सकता है परन्तु हे तात! पति का विरह अबला से सहन कदापि

नहीं हो सकता ॥ १११ ॥ ११२ ॥

मा मुह्यस्व त्वमप्यम्ब ! विमर्शय मनोन्तरा। क्वापि किं कामिनी कान्तं विना संशोभतेऽधिकम् ॥११३॥

अर्थ—हे अम्ब ! तूं भी मोह मत कर, और मनमें विचार कर, क्योंकि पति के विना स्त्री क्या कंही शोभा देती है?

तरुं विना लता नेव रजनी शशिनं विना। सौदामिनी विनाम्भोद मब्जिनी तरणिं विना ॥११४॥

अचैतन्यवतामित्थ मेतासां चेदियं स्थितिः। अन्यासामपि साध्वीनां योषितामीदृशी गतिः ॥११५॥

अर्थ—वृक्ष के विना लता की शोभा नहीं. चन्द्र के विना रात की शोभा नही, बादल के विना बिजली की शोभा नहीं, और सूर्य के विना कमलिनी की शोभा नहीं। जैसे चेतना रहित तरुलता आदि की शोभा नहीं होती ठीक वैसे ही शीलवती स्त्रीयों की शोभा पति के विना नही हो सकती ॥ ११४ ॥ ११५ ॥

तत्सवित्रीतदाऽवादीद्वत्से ! यत्तव रोचते। कुरु तत्मातरन्वेतु भवती रमणं निजम् ॥११६॥

नृपो ददौ सुतायै च जामात्रे समयोचितम्। क्षौमद्युम्नादिकैः सार्धं विविधाभरणादिकम् ॥११७॥

अर्थ—बेटी की बातें सुन माताने कहा-हे वत्से ! जो तुझे अच्छा लगे सो करो कल ही अपने पतिदेव के पीछे तुम जाओ राजाने लडकी तथा जमाई को समयोचित वेष रेशमी वस्त्र और धन आदि के साथ अनेक जवेरात भी दिया ॥११६॥

अथ प्रयाणसमये माताऽऽख्यन्निजकुक्षिजाम्। पुत्रि ! यद्यपि दक्षासि शास्त्रज्ञा पुण्यवत्यसि ॥११८॥

तथापि निर्भर प्रेम्णा ते किञ्चिदुपदिश्यते। प्रवर्तितव्यं साध्वीनां त्वया शुचितरे पथि ॥११९॥

अर्थ—इसके बाद प्रयाण के वख्त माताने कहा कि हे पुत्रि ! यद्यपि तूं चतुर है शास्त्र को जानेनवाली है और पुण्य शालीनी है फिर भी तेरे उपर मुझे अत्यन्त प्रेम आता है. उस प्रेम के नाते कुछ उपदेश देना चाहती हूं कि पतिव्रताओं के सन्मार्ग में तूं प्रवृत्ति करना ॥ ११८ ॥ ११९ ॥

यशस्त्वयार्जनीयं तु नायशश्च कदाचन । श्वश्रुश्वशुरयोः पादपङ्कजप्रणताभवेः ॥१२०॥

भक्त्या निबिडया जीवितेशमाराधयेः सदा । देवरज्येष्ठयोराज्ञां नोल्लङ्घयेरहर्निशम् ॥१२१॥

ननन्दृषु भवेनम्रा सपत्नीषु च गर्विता । सनर्मा कान्तमित्रे च नदरातावधोमुखी ॥१२२॥

अर्थ—और यश कां उपार्जन करना, अयश का कभी नहीं । सासु और ससुर के चरणों में नित्य नमस्कार करना । बहुत भक्तिपूर्वक पतिदेव की आराधना करना । देवर एवं जेठ की आज्ञा का उलंघन कभी मत करना । नणंद के पास हमेश नत मस्तक रहना । और सौत के पास गर्व रखना । और पति के मित्रों के साथ नत रहना, और पति के शत्रुओं के पास अधोमुखी रहना ॥ १२० ॥ १२१ ॥ १२२ ॥

एवमध्वनियान्तीनां सतीनामत्र निर्मलम् । यशः परत्र तत्स्वर्गोवासि दूरे न नन्दने ! ॥१२३॥

अर्थ—हे पुत्रि ! ऐसे सुन्दर मार्ग में चलती हुई सतियां इस संसार में निर्मल यश पाती है और परलोक में स्वर्ग मिलता है । उन के लिये स्वर्ग कोई दूर नहीं है ॥ १२३ ॥

एवं शिक्षां सुतायाश्च वदन्ती गद्गदाक्षरम् । प्रदायाम्बा पुनः पुत्रीमाललाप मिताक्षरम् ॥१२४॥

आपृष्टाऽसि पुनः कुत्र द्रष्टव्यासि सुलोचने ।। विना मया महद्भाग्यं कुलानन्दिनिनन्दने ! ॥१२५॥

अर्थ—इस तरह गद् गदाक्षर में कहती हुई माता वेटी को शिक्षा देकर के फिर से थोडा कहने लगी। हे सुलोचने! कुल को आनन्द दायिनी वेटी ! विना भाग्य के मैं फिर तुम को कहा पूछ सकती हूं ? और कहा देख सकती हूं ॥१२५॥

रत्नावल्यपि सप्रेमगाढमालिङ्ग्य मातरम्। पितरं बन्धुवर्गं च ययावापृच्छय मन्दिरम् ॥१२६॥

अर्थ—रत्नावली भी प्रेमके साथ माता से आलिङ्गनपूर्वक मिल कर पिताश्री तथा बन्धुवर्गो की आज्ञा पाकर अपने घर चली गई ॥ १२६ ॥

इतश्च प्रगुणीकृत्य कृत्वा वस्तुप्रपूरितम्। श्रेष्ठी च तारयामास यानपात्रं तु वारिधौ ॥१२७॥

अर्थ—इधर शेठने जहाज को तैयार कर के सामान से भरने के बाद समुद्र में जहाज को छोड दिया ॥ १२७ ॥

कुमारोऽपि सभार्यः सन्नारुरोह सुपोतकम्। आपृच्छ्यश्वसुरं श्वश्रुं सुहृद्वर्गं च वल्लभम् ॥१२८॥

अर्थ—वत्सराज कुमार भी अपनी पत्नी रत्नावली को साथ लेकर सासु तथा ससुर और इष्ट मित्रों को पूछ कर के जहाज में चढ गया ॥ १२८ ॥

शुभेह्नि सोमदत्तेन वाहनं पूरितं ततः। चलितं वायुवेगेन महाम्भोधौ गतं क्रमात् ॥१२९॥

तेनानिलानुकुल्येन घनोऽध्वा वाहनेन च। निष्पत्यूहमतिक्रान्तः कियद्भिर्गणितैर्दिनैः ॥१३०॥

विधत्ते सकलां चिन्तामपरिं स्वयमेव सः। सेवकवत्कुमारस्य श्रेष्ठी नित्यं जलाध्वनि ॥१३१॥

अर्थ—उसके बाद सोमदत्त शेठ द्वारा सामान से भरा हुआ जहाज शुभ दिन में समुद्र के बीच वायु वेग से चला। वायु के अनुकूल जहाज द्वारा सोमदत्त शेठने कितने ही गिने हुए दिनों से कठिन मार्ग को निर्विघ्नतामय व्यतीत किया। जल मार्गमें सेवककी तरह शेठ अनेक प्रकारकी चिन्ता करता हुआ खुद ही कुमारकी सेवा करनेमें हमेशा तत्पर हो गया ॥

रात्रिं दिवं च सर्वेषां मायया स्वानुजीविनाम्। पदे पदे वदन्नेवं स तिष्ठति पुनः पुनः ॥१३२॥

रम्भावत् सुकुमारस्य कुमारस्य च सेवकाः। मदीश्वरस्य कुर्वन्तु सेवां रत्नावलीपतेः ॥१३३॥

अर्थ—सोमदत्त माया से अपने सेवकों को रातदिन पद पद में और वारवार कहने लगा कि मेरे प्रभु रत्नावली के पति रम्भा के समान सुकुमाल कुमार की सेवा सावधानी पूर्वक करते रहो ॥ १३२ ॥ १३३ ॥

अन्यदा पापिना सोमदत्तेनाचिन्ति मायिना। चित्ते विचारितं चैवासद्भावेनाकृपालुना ॥१३४॥

कुमारं मयि विश्वस्त मेनं क्षिप्त्वाम्बुधौछलात्। गृहीत्वास्य वधूं सद्यः करोमि दयितां मम ॥१३५॥

अर्थ—एक दिन निर्दयी पापी, कपटी और मायावी सोमदत्त शेठने मन में बुरे से बुरा विचार किया कि मेरे ऊपर कुमार पूरा विश्वासी है, इस लिये इस को छल द्वारा समुद्रमें गिराकर इसकी स्त्री को अपनी स्त्री बना लूं ॥१३४॥१३५॥

चेदियं दयिता मे स्यात्तदा मे जीवितं धनम्। यौवनं सफलं सर्वमन्यथा तु विडम्बना ॥१३६॥

अर्थ—अगर यह स्त्री मेरी हो जाय, तब मेरा जीवन धन और जवानी भी सफल हो जाय। अन्यथा तो विडम्बना—कष्ट ही है ॥ १३६ ॥

सुभगं धनिनं दक्ष कामुकं रूपसुन्दरम्। न मामिच्छति का नारी तारुण्यभूपिताङ्गकम् ॥१३७॥
अर्थ—सौभाग्य सम्पन्न,धनवान, चतुर,कामदेवके समान सुन्दर रूपवान् और जवानीसे पूर्ण मुझे कौन नारी नहीं चाहेगी ?

इयं मदुचिता कान्ता रत्याभा त्वस्य नोचिता। अहमप्युचितस्तस्या योग्ययोगो भवत्वयम् ॥१३८॥
अर्थ—कामदेव की स्त्री रति के समान सुन्दरी यह कान्ता मेरे योग्य है और मैं भी इसके लायक हूं। कुमार के योग्य यह स्त्री नहीं है अतः मेरे योग्य संयोग हुआ है ॥ १३८ ॥

अयं मदन्तिके वर्गोऽनुकूलस्त्वनुजीविनाम्। अन्योऽपि परिवारोऽयं मदधीनः प्रवर्त्तते ॥१३९॥
अर्थ—मेरे पास जितनेभी सेवक है वे सब मेरे अनुकूल है। और भी परिवार मेरे अधिकार में प्रवृत्ति करते है॥१३९॥

अत्र कोऽपि मदीयोऽरिर्नास्त्यगाधोऽत्र वारिधिः। समीपवर्त्तिनो तीरमत्रज्ञास्यति नापरः ॥१४०॥
सत्यां सकल सामग्र्यां चेन्न कुर्वे मदीप्सितम्। इदृशीवल्लभावाप्तिरन्यथा मे कुतो भवेत् ॥१४१॥
अर्थ—यहां मेरा कोई शत्रु भी नहीं है,यहा समुद्र अगाध है और समीपमें तट भी नही है, यहा दूसरा कौन समझेगा ?॥ सब प्रकारके साधन होते हुए मैंने वांछित कार्यको पूरा नही किया तो फिर ऐसी स्त्री की प्राप्ति कहां से हो सकेगी ?॥

एवं विमृश्य मनसा त्यक्त्वा पापभयं रहः। समाहूयादिदेशाथ विश्वस्तान् सेवकान्निजान् ॥१४२॥
भो! सेवकवरा यूयं मच्चित्ताधारभूमयः। मद्गुह्यरक्षका नित्यं मद्दत्तादेशकारिणः ॥१४३॥
अर्थ—ऐसा पहले मन ही मन सोच विचार पूर्वक पाप के भय को छोड कर विश्वासपात्र अपने सेवकों को एकान्त

में बुला कर सोमदत्त कहने लगा कि हे सेवकगणों! तुम सब मेरे मन के आधारभूत हो, मेरी गुप्त बातकी भी रक्षा करने वाले हो और हमेशा मेरी आज्ञा का पालन करने वाले हो ॥ १४२ ॥ १४३ ॥

मया युष्मद्बलेनैव दृष्टो जनपदस्त्वयम्। चन्द्रोज्वलं यशोऽवाप्तं प्रभूतमर्जितं धनम् ॥१४४॥
परं कर्त्तव्यमेकं तु कार्य्यमद्यापि मेऽस्ति तत्। यद्वक्तुं शक्यते नैव त्रपया देहसंस्थया ॥१४५॥

अर्थ—और मैंने इस देश को भी तुम्हारे बलसे ही देखा है चन्द्रमाके समान उज्वल यश पाया हैं और प्रचूर धनभी कमाया है। परन्तु आज भी एक कार्य मेरे शेष रह गया है लेकिन लज्जावश मेरेसे कहा नहीं जाता है ॥१४४॥१४५॥

ते प्राहुरथ हे स्वामिन्! तत्किं कार्य्यं च विद्यते। यद्वक्तुमप्यशक्यन्ते त्रपां हित्वा निगद्यताम् ॥१४६॥

अर्थ—सेवकोंने कहा—हे स्वामिन्! वह कौन कार्य है? जिसे आप नहीं कह सकते। शर्म छोड करके आज्ञा फरमाईये॥

ततः श्रेष्ठी जगादेत्थं मम वाक्यं निशम्यताम्। मदश्वरक्षकश्चायं जामाता भूभृतोऽभवत् ॥१४७॥
आयाति वाहनारूढः सवधूकः सः साम्प्रतम्। सुवर्णरत्नमाणिक्यदिव्यवासविभूषितः ॥१४८॥
अस्मै नैषोचिता कान्ता क्षिप्त्वामुं जलधावतः। आदाय सुन्दरीमेनां करिष्ये प्राणवल्लभाम् ॥१४९॥
भवद्भिस्तु धनं ग्राह्यं मया ग्राह्येयमंगना। मद्वचः शैलरेखाभं सर्वत्रात्र विशेषतः ॥१५०॥

अर्थ—तब सोमदत्त कहने लगा कि मेरी बात सुनो! यह मेरे घोडे का रक्षक राजा का जमाई हो गया है और सुवर्ण रत्न मणि और अच्छे अच्छे कपडे से विभूषित अभी भी स्त्री के साथ जहाज में आ रहा है। इस के लिये यह

सुन्दरी उचित नहीं है, अतः इसे समुद्र में फेंक कर इस की स्त्री को लाकर के अपनी स्त्री बनाऊं। तुम सब तो इस का धन ले लेना, और मैं सुन्दरी को ले लूंगा। मेरी बात झूठ नहीं होगी–पहाड की रेखा की तरह अटल और अविचल है॥

तेऽप्यूचुरत्र दुःसाध्यं किमस्ति का विमर्शना। सोऽक्षेपि तै र्निवेद्यति श्रेष्ठिवाक्यात्पयोनिधौ ॥१५१॥

अर्थ—शेठकी बातें सुन कर सेवकोने कहा कि इस में क्या विचार करना है? और असाध्य क्या है? ऐसा कह कर शेठ की आज्ञानुसार वत्सराज को समुद्र में डाल दिया॥ १५१॥

यैरेव पातितः पुम्भिस्तैश्च हाहारवः कृतः। श्रेष्ठी तत्तुमुलं श्रुत्वा चक्रन्दोच्चैः स्वरेण सः ॥१५२॥

अर्थ—जिसने समुद्र में गिराया, वे ही लोग हा हा शब्द करने लगे, उनके भयंकर शब्दों को सुनकर सोमदत्त उच्च स्वर से चिल्लाने लगा॥ १५२॥

हा! कुमार! निराधार! परलोककृतादर!। उपकारनिधे! जातं तव किं वचनातिगम् ॥१५३॥

गत्वरापारसंसारविजित्वर! मनोहर!। गुणाधार! कृपाधार! तवासीत्किममङ्गलम् ॥१५४॥

असहायो निराधारो जातोऽस्मि दुःखभाजनम्। अयशः पात्रमद्यैव चिन्ताखानिर्गते त्वयि ॥१५५॥

तव स्नेहवती रूपवती भाग्यवती सती। दयिताऽभिमताऽतीव त्वां विना किं करिष्यति ॥१५६॥

अर्थ—हा कुमार! हा निराधार! हे स्वर्गलोक सत्कृत! हे उपकार सागर! तुझे अवर्णनीय यह क्या हुआ? हे गमनशील संसार को जीतने वाला? हे मनोहर! हे गुणाधार! कृपाधार! तुझे यह अमंगल क्या हुआ? तेरे जाने से

मैं सहाय रहित हो गया. कोइ आधार नहीं रहा, और अथाग दुःख तथा अपजश का पात्र बन गया. एवं चिन्ता की खान बन गया। परन्तु स्नेहवाली रूपवाली भाग्यवाली और प्रतिव्रता वह प्रियतमा आपकी स्त्री विना आपके यहां क्या करेगी ? ॥ १५३ ॥ १५४ ॥ १५५ ॥ १५६ ॥

किम्वदन्तीं तवनिष्टां श्रुत्वा ते प्रवया पिता। जीविष्यति कथं वत्स ! भृशं श्रवणदुःश्रवम् ॥१५७॥
एतश्चनिश्चयं जाने तवाम्बा स्वजनाननात्। स्नेहान्विता कथाशेषं त्वां निशम्य मरिष्यति ॥१५८॥
त्वामृते स्वजनाधार ! वीर ! गत्वा निजं पुरम्। जनानामग्रतश्चाहं कथं द्रष्टास्मि चाननम् ॥१५९॥
इत्यादि विलपन् श्रेष्ठी निषिद्धश्च जनैः स्थितः। विज्ञायते न केनापि चरितं दुष्टचेतसाम् ॥१६०॥

अर्थ—हे वत्स ! तेरा वृद्ध पिता कर्णाकर्णितया तेरी अनिष्ट अफवाह को सुनकर कैसे जिन्दा रह सकेगा ? स्नेह से युक्त तेरी माता अपने सम्बन्धीजनों के मुख से कथा का अन्तरूप तुझे सुनकर मर जायगी। यह निश्चय मैं जानता हूं। हे वीर ! कुटुम्बियों का आधार ! तेरे विना अपने नगर में जाकर के लोगों को मैं अपना मुख भी कैसे दिखाउंगा ? इस प्रकार से विलाप करता हुआ सोमदत्त को लोगोने समझा बुझाअर स्थिर कर दिया। किन्तु कहा है कि दुराचारियोंका आचरण किसी से मालूम नहीं हो सकता ॥ १५७ ॥ १५८ ॥ १५९ ॥ १६० ॥

साम्ना निवारयामास विलपन्तीमनेकधा। रत्नावलीं विनाकान्तं मृद्व्यैव प्रवदन् गिरा ॥१६१॥

अर्थ—पति के विना अनेक प्रकारसे विलाप करती हुइ रत्नावली को कोमल वाणी द्वारा शेठ सोमदत्त कहने लगा ॥

हे सुन्दरी ! दृढं चित्तं कृत्वा तिष्ठ विधेहि मा। रोदनं सत्वमालम्ब्य चाश्रुपातं त्यजाधुना ॥१६२॥
ईदृशस्तव कान्तश्चेद्दक्षोऽपि पतितोऽम्बुधौ। अयं दोषो विधेरेव दोषो नान्यस्य कस्यचित् ॥१६३॥
जले स्थलेऽम्बुधेस्तीरे पुरे ग्रामे वनेऽध्वनि। भाव्यं यत्र यथा यस्य मरणं स्यात्तथैव तत् ॥१६४॥
ईदृग् विधैर्वचोभिश्च प्रतिबोध्य निरन्तरम्। दुःखान्निवर्तयामास श्रेष्ठी तां प्रकृतिस्थिराम् ॥१६५॥

अर्थ—हे सुन्दरी ! हृदय को दृढ करके रहो, रोदन मत करो, और सत्व का आलम्बन लेकर के इस समय आसूं मत गिराओ। इतना चतुर होने पर भी तेरा पति समुद्रमें पड गया. इस में केवल भाग्यका ही दोष है किसी दूसरे का नहीं। क्योंकि–जल हो, स्थल हो, समुद्र के तीर पर हो या नगरमें हो. गांवमें हो. जंगलमें हो, मार्गमें हो. जिस के जहां जैसा मरण होनेवाला रहता है. उसके उसी रीति से होकर ही रहता है इसलिये चिन्ता करना व्यर्थ है। इस प्रकार अनेक वचन से खूब समझा बुझाकर प्रकृति से स्थिर रत्नावली को दुःखसे सोमदत्त शेठने निवृत्त कर दी ॥१६२॥१६३॥१६४॥१६५॥

तद्वाक्यैः कृत्रिमप्रायै रिङ्गितै देहचेष्टया। चरितं पापिनोऽस्यैतत् सम्यगेवं विवेद सा ॥१६६॥

अर्थ—उस शेठ के वचन से, बनावटी ईशारा से, और शरीर की चेष्टा से पापी सोमदत्त के चरित्र को चतुर रत्नावली अच्छी तरह समझ गई ॥ १६६ ॥

परं तया प्रकारेण केनापि न प्रकाशितम्। विना समयमप्युक्तमरण्यरुदितोपमम् ॥१६७॥

अर्थ—परन्तु रत्नावलीने अरण्यरोदनकी तरह समझ कर उस बातका प्रकाश विना समय किसी प्रकारसे नहीं किया॥

अथैवं सोमदत्तस्तु स्वरूपं स्वाशयस्थितम्। तस्यै निवेदयामासोपविश्यान्तिकमेकदा ॥१६८॥
मृगाक्षि! मन्मनोऽतीवानुरक्तं त्वयि वर्तते। त्वां विना यद्दिनं याति तज्जानामि निरर्थकम् ॥१६९॥

अर्थ—उसके बाद एक दिन रत्नावलीके समीप बैठ कर सोमदत्तने अपने हृदय में रहा हुआ अभिप्राय के स्वरूपको कह दिया ॥१६८॥ हे मृगाक्षि! तेरे ऊपर मेरा मन अत्यन्त आसक्त हो गया है, तेरे विना जो दिन जाता है उसको मैं निष्फल जानता हूं ॥ १६९ ॥

ऐश्वर्यंद्रव्यबाहुल्यमेतच्चाभिनवं वयः। सौभाग्याद्यफलं सर्वं मन्ये त्वत्सङ्गमं :विना ॥१७०॥

अर्थ—तेरे संमम के विना ऐश्वर्य बहुत धन, नूतन अवस्था, और सौभाग्य आदि सब निरर्थक है ऐसा मैं मानता हूं॥

एवं त्वमपि जानासि मुग्धे! कान्तो मृतो मम। न जीवति परासुश्चेद्यापि का विमर्शना ॥१९१॥

अर्थ—हे मुग्धे! तुम भी जानती हो कि मेरा पति मृत्यु को प्राप्त कर लिया है, और मृत्यु के बाट पहुंचा हुआ पुनः जीवित नहीं होता है, फिर क्या विचार करना? ॥ १७१ ॥

एतच्चानुपमं रूपं पावनं यौवनं वयः। चातुर्यमतिसौन्दर्यं मा निर्गमय मानिनि! ॥१७२॥
धनं यशः सुखं पुण्यं प्रभूताभीष्ठसंगतिः। आसाद्यते पुनर्भूयो नाप्यते यौवनं गतम् ॥१७३॥

अर्थ—हे मानिनी! ऐसा अनुपम रूप, पवित्रजवानी, युवावस्था, चतुरता• और अत्यन्त सौन्दर्यताको व्यर्थ मत गमाओ। क्योंकि धन, यश, सुख.पुण्य,और पूर्ण अभीष्ट संगम ये सब फिरसे पासकते है परन्तु गई जवानी फिर नहीं आ सकती है॥

त्रपां हित्वा वचःश्रुत्वा मामकीनं मनस्विनि ?। अद्य मां कामदावाग्निज्वलितं प्रगुणीकुरु ॥१७४॥
अतीव पञ्चबाणोग्रदन्दशूकेन मूर्च्छितम्। प्रियेऽधरसुधापानदानान्मां निर्विषीकुरु ॥१७५॥

अर्थ—हे मनस्विनि ! लज्जा छोड कर मेरी बात सुन कर के आज काम रूपी दावानल से जला हुआ मेरे को शान्त करो ॥ हे प्रिये ! कामदेव रूपी सर्प से अत्यन्त बेहोश हुए मुझे अधर सुधापान देकर के विष रहित करो ॥ १७४॥१७५॥

कुरूपानेकमहिलागमनेनापवित्रितम्। त्वदङ्गसङ्गमाभोगस्नानदानात्पवित्रय ॥ १७६ ॥

अर्थ—कुरुपी अनेक महिलाओंके पास जानेसे अपवित्र मुझे तुम अपने अङ्गके संगम और स्नान दानसे पवित्र करो ॥

अथाग्रे न वदिष्येऽहं त्वं वदिष्यसि चेन्नहि। उक्त्वेति संश्रितो मौनं त्वत्प्रत्युक्ति कुतूहली ॥१७७॥
स्वचित्तकल्पितं मेने प्राक्तनं सत्यमेव सा। आकर्ण्यतद्वचो युक्ति तदा भूयस्त्वचिन्तयत् ॥१७८॥

अर्थ—अब तूं बोलेगी या नहीं ? बस आगे अब मैं नहीं बोलूंगा। ऐसा कह कर सोमदत्तने प्रत्युत्तर सुनने के लिये उत्कंठित होकर मौन धारण किया ॥ १७७ ॥ रत्नावली अपने मन में कल्पित प्राचीन बात को सत्य ही समझने लगी, और दुष्ट शेठ की वार्ता की युक्ति सुनकर पुनः चिन्ता करने लगी ॥ १७८ ॥

अनेन पापिनाऽक्षेपि मत्पतिर्मत्कृतेऽम्बुधौ। अतो मया निजंशीलं रक्षणीयं मनीषया ॥ १७९ ॥
अहमेकाकिनी चायं दुष्टः परिकरान्वितः। मया तथापि तत्कार्यं न लज्जते कुलं यथा ॥ १८० ॥
ध्यात्वेति सा त्रपां हित्वा बभाषे श्रेष्ठिपुङ्गव!। यावत्पयोनिधिस्थोऽसि तावत्कालं विलम्बय ॥१८१॥

अर्थ—अहो ! इस पापीने मेरे लिये ही मेरे पतिदेव को समुद्रमें गिरा दिया है इसलिये अपने शील की रक्षा बुद्धि द्वारा करनी चाहिये। क्योंकि यहां में अकेली हूं और यह दुष्ट सेवकों से युक्त है. फिर भी ऐसा करुं कि जिस से मेरा कुल लज्जित-कलंकित नहीं हो। इस प्रकार मनही मन ध्यान करके लज्जा को छोड कर रत्नावली कहने लगी हे श्रेष्ठिवर्य ! जबतक समुद्रमें है तब तक विलम्ब करो ॥ १७९ ॥ १८० ॥ १८१ ॥

अगाधे वारिधावस्मिन् पुण्यमेव वितन्यते। पापवार्ताऽपि नो कार्य्या पुंसाम्बुधितितीर्षुणा ॥१८२॥
सर्वंजनास्तु पश्यन्त्यावयोर्दुश्चरितं स्फुटम्। एतत्कार्यं रहःकार्य्यं मन्यथा महती त्रपा ॥१८३॥
अत्रवाच्यं किमप्यस्ति त्वदधीनाऽस्मि सर्वदा। तत्तथैव करिष्ये यद् ग्रामं गतो वदिष्यसि ॥१८४॥

अर्थ—चूंकि इस अगाध समुद्रमें पुण्यका उपार्जन करना चाहिये, समुद्रसे पार होनेवाला पुरुषको पापकी चर्चा भी नहीं करनी चाहिये। और अपने दोनों के दुश्चरित्र को ये सब सेवक देख रहे है. ऐसा निन्दित कार्य तो एकान्तमें करना चाहिये। नहींतर (वरना) मुझे तो बड़ी शर्म आती है। यहां विशेष बोलना क्या है? हमेशा ही आपके आधीन हूं। नगरमें जाने पर जैसा भी आप कहेंगे वैसा ही करुंगी ॥ १८२ ॥ १८३ ॥ १८४ ॥

मद्भर्तरि मृतेऽद्यापि गतं नो वासराष्टकम्। लीनं त्वय्याशुमच्चित्तमतो ह्रिया विलम्ब्यते ॥१८५॥

अर्थ—मेरे पति के मरे हुए को आज आठ दिन भी नही हुए है. फिर भी मेरा मन जल्दी तेरे में आसक्त हो गया है किन्तु लज्जा से विलम्ब कर रही हूं ॥१८५॥

क्षुधाभिकतरालश्चा चेत्कस्यापि कर्हिचित् । ग्रपां विहाय पाणिभ्यां तत्किं तेनोपभुज्यते ॥ १८६ ॥

अर्थ—देखो ! किसीको कभी खूब भूख लगी तो क्या वह लज्जा छोडकर दोनों हाथोंसे खा सकता है ? कभी नहीं ॥

एकदा तीर्य्यतेऽम्भोधिः पुरे च गम्यते निजे । दृश्यते बन्धुवर्गस्ते चित्तस्वास्थ्यं विधीयते ॥१८७॥

ततः परं रहः प्राप्य विमृश्य मनसा समम् । त्वदभीष्टं करिष्यामि भवान् मा चिन्तयान्यथा ॥१८८॥

अर्थ—एक बार समुद्र से पार हो जाओ, फिर अपने नगर में जाकर कुटुम्ब को देखो और चित्त को स्वस्थ होने दो. बादमें मनके साथ विचार करके एकान्त देखकर आपका इच्छित कार्य अवश्य करूंगी । इसलिये आप अभी चिन्तामत करो ॥

पूर्वोदितैर्वचोभिस्तमानन्द्य समयोचितैः । दिनानि गमयन्ती सा तिष्ठत्येवं सशंकिता ॥१८९॥

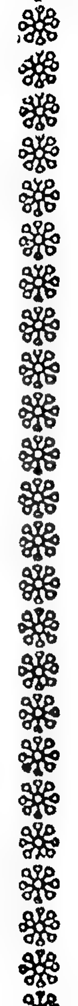
मन्यमानः कृतार्थं स्वं श्रेष्ठी तज्जनिताशयः । वर्ण्यमानं निजं रूपं भूयो भूयोऽवतिष्ठते ॥१९०॥

अर्थ—इस प्रकार पहले कहे हुए समयोचित वाणी द्वारा उसे बहुत खुश कर के रत्नावली समय विताती हुई सशंकित रहने लगी ॥ अपने अभिप्राय को सिद्ध हुआ जानकर शेठ अपने को धन्य धन्य समझता हुआ अपनेरूपका बारबार वर्णन करने लगा ॥१८९॥ १९० ॥

इतश्च निपतन् पोताद् वत्सराजो विधेर्वशात् । अम्भोधिस्थितमीनेन गलितो वृहताधिकम् ॥१९१

मीनोऽपि वार्धिकल्लोलप्रेरितश्चापतत्तटम् । अत्रान्तरेऽम्बुधेर्नीरं गतं मीनस्तटे स्थितः ॥ १९२ ॥

धीवरैः पापिभिर्दृष्टो झषस्तैश्च विदारितः । मीने विदारिते जीवन् वत्सराजश्च निर्ययौ ॥१९३॥



अर्थ—इधर जहाजसे पडे हुए वत्सराज को भाग्यवश समुद्रमें रही हुई मच्छलीने अपने गलेमें उतार दिया। बाद में बढती हुइ जल की तरंग से प्रेरित विशाल मच्छली समुद्र के उस तट पर पहुंच गई। इसी बीच में समुद्रका जल वापिस लौट गया. और मच्छली तीर परही रह गई ॥ इतने में पापी मच्छुआने मच्छली को देखी. और तुरत फाड दिया. फाडते ही वत्सराज जीन्दा बहार निकल आया ॥ १९१ ॥ १९२ ॥ १९३ ॥

शफरोदरमध्यस्थमकस्मान्निर्गतं बहिः। अत्यद्भूतं नरं वीक्ष्यः भीताः केऽपि पलायिताः ॥१९४॥
तत्कुक्षितापजां मूर्छां वातस्तस्यापनीतवान्। सोऽथनिःशंकितस्तीरं बभ्राम च पयोनिधेः ॥१९५॥

अर्थ—मछलीके पेटसे अचानक निकले हुए मनुष्यको देख कर डरके मारे कितने ही तो दूर भाग गये। उसके पेट में रहे हुए तापसे उत्पन्न हुई मूर्छाको वायुने हटादी। बाद वत्सराज समुद्रके तटपर शंका रहित स्वेच्छा से घूमने लगा ॥

भ्रमंश्च वाटिकामध्यं गतस्तत्र स्थितो निशि। पुष्पाजीवः प्रभाते तु समेतो निजवाटिकाम् ॥१९६॥
पुष्पितान् फलितान् सर्वांस्तरून् दृष्ट्वा विसिस्मये। अचिन्तिचित्ते तेनेति कोऽत्रहेतुर्विलोक्यते ॥१९७॥
तेनालोकयता तत्र दृष्टः सुप्तः पुमानथ। आलोचितं प्रभावेणास्यैवारामं तु शाड्वलम् ॥ १९८ ॥

अर्थ—घूमता हुआ वत्सराज बगीचा के बीच में जा पहुंचा. और वंही रातभर ठहर गया। प्रातकाल के समय बगीचा का मालीक उसी वाटिका में पहुंचते ही फले फूले सब वृक्षों को देखकर मन में सोचा कि यह क्या हुआ? अचानक ऐसा कैसे होगया? चलो देखें—ऐसे विचारोंसे मालीकके इधर उधर देखने पर एक सोया हुआ पुरुष देखनेमें आया



उसे देखने की सोचा जाने। इसी पुरुष के प्रभाव से यह बगीचा हराभरा होगया है ॥ १९६ ॥ १९७ ॥ १९८ ॥

पूर्णी भवति रिक्तन्तु शुष्कमार्द्री भवेदपि। पुसः पादप्रचारेण भवेद्भाग्यवतो न किम् ॥ १९९ ॥
इत्यालोच्य तदाभ्यासमेत्य सोऽपि जजल्प तम्। पुमान् कुतः समेतोऽथ पवित्रयसि कां भुवम् ॥२००॥
न गतस्त्व पुरीमध्ये वाटिकाया कथं स्थितः। कथनीयं यदिस्यान्मे तदा वदान्यथात्वलम् ॥२०१

अर्थ—भाग्यशाली पुरुषके पाव रखते ही खाली जगह पूर्ण होजाती है और सुखी गिली हो जाती है। अर्थात् भाग्यवान के लिये क्या नहीं होता है ? माली मनही मन ऐसा सोचकर उसके पास में जा बैठा और बोला हे पुरुष ! कहां से आये हो ? किस देश मे रहते हो ? और गाव मे न जाकर के आप यहां बगीचा मे ही क्यो ठहर गये ? यदि मेरे कहने योग्य हो तो कह सुनाईये वरना आपकी जैसी इच्छा ॥ १९९ ॥ २०० ॥ २०१ ॥

वैदेशिको जगादाथारामाधीश ! निशम्यताम्। अवाच्यं नास्ति मे तेऽग्रे विदेशादहमागतः ॥२०२॥
भुवमालोकयन्नस्मि कौतुकेन नवांनवाम्। पुरमध्येन कोऽप्यस्ति मदीयस्तेन नो गतः ॥ २०३ ॥
देशो तस्मिन् पुरे तस्मिन् न गंतव्यं च धीमता। स्वीयो यत्र न कोऽपिस्यादालापस्यापि संशयः ॥२०४॥

अर्थ—माली की बातें सुनकर विदेशी वत्सराजने कहा हे मालीश ! सुनो ! तुम्हारे सामने अवाच्य कुछ भी नहीं है। मैं विदेशसे आया हूं, कौतुक से नई नई जगह देख रहा हूं. और नगर के अन्दर मेरा कोई नहीं है इसलिये में वहां न जाकर यंही ठहर गया ॥ उस देश में, उस गांव में, बुद्धिमानो को नही जाना चाहिये. जहां कि अपना कोई नही हो.

चूंकि वहां बोलनेका भी संदेह रहता है ॥ २०२ ॥ २०३ ॥ २०४ ॥

एकाकिनां मुनीनाञ्च प्रवासिनाञ्च योगिनाम् । मठोद्यानविहारादावुचितावस्थितिः सदा ॥२०५॥

अतःस्थितस्तवोद्याने विजने सुखसद्मनि । मालिकस्तं जगादाथ विनयानतकन्धरः ॥ २०६ ॥

विपुलं भाग्यमद्याहो ! धन्यश्चसमहं महान् । कृतार्था जगतीयं त्वत्पादपांशुपवित्रिता ॥२०७॥

अर्थ—अकेलों को, मुनियों को, प्रवासियों को हमेशा मठ बगीचा अथवा विहार आदि में ठहरना चाहिये । इसलिये मैं भी सुखका घर रुप तेरा निर्जन बगीचा में ही ठहरा हूं । इसके बाद विनय से शिर झुकाकर मालीने कहा कि अहो ! आज मेरा पूर्ण भाग्य है, और मैं महा धन्य हूं और आपके चरणरज से यह संसार भी कृतार्थ होगया ॥२०५॥

पुष्पितफलितारामे स्थेयमत्र समाधिना । भोक्तव्यं मादृशं देव ! कृत्यमादिश्यमञ्जसा ॥२०८॥

अर्थ—हे देव ! फूले फले बगीचे में आप शान्तिपूर्वक निवास करो, और मेरे जैसा भोजन आप भी करें । और आगे करने योग्य कार्यका शीघ्र आदेश दीजिये ॥ २०८ ॥

पुनरूचे स तं मित्र ! तवारामे कियत्यपि । दिनानि त्वद्गिराप्रीतः स्थास्यामि त्वत्कृतादरात् ॥२०९॥

अर्थ—फिर वत्सराजने कहा कि हे मित्र ! तुमसे किये गये सत्कार से एवं तेरी विनम्रवाणी से मैं बडा प्रसन्न हुआ, अब तेरे बगीचे में ही कुछदिन अवश्य रहुंगा। । २०९ ॥

त्वत्प्रेयस्यामदाहारचिन्ताकार्या निरन्तरम् । पवित्रीभूय मध्याह्ने मद्दत्तद्रविणव्ययात् ॥२१०॥

अर्थ—परन्तु एक काम तेरे जुमे रहेगा। वह यह है कि मेरे दिये हुए धन के खर्चे से तेरी स्त्री पवित्र होकर के रोज मध्याह्न के समय एक वार मेरे लिये भोजन लाया करें ॥ २१० ॥

एवमस्त्विति हे साधो! तद्वाक्यं सोऽपि संस्मरन्। स्वस्वार्थहेतवे तस्थौ ताभ्याञ्च तद्वचः कृतम् ॥२११॥

अर्थ—मलिने कहा कि हे सज्जन! आपकी जैसी आज्ञा वैसा ही होजायगा। इसके बाद उसके वाक्यों को याद करता हुआ वत्सराज अपने स्वार्थ के लिये इधर उधर कहं न जाकर के उसी बगीचे में ही ठहर गया. क्योंकि—सोमदत्त शेठ की जहाजें की इन्तजारी करता हुआ शान्ति से समय पसार करने लगा। मालि और मालिनी भी वत्सराज के आदेशानुसार वत्सराज की सेवा भक्ति करने में निरन्तर दत्तचित रहने लगे और समय पर भोजन पहुंचाने लगे ॥ २११ ॥

जीवन्तीतामेकपत्नीं मदीयां पत्नीं द्रक्ष्याम्येकवारं कदाचित्।
चित्ते ध्यायन्नेव मेकान्ततश्च संख्यां कुर्वन् वासराणांगतानाम् ॥ २१२ ॥
भुंक्ते शेते वाटिकायां च तस्यां पुष्पाजीवानेकभक्तिप्रणुन्नः।
प्रच्छन्नः सन्वत्सराजः स्वजाया-वाप्त्याकांक्षी सोमदत्तागमोत्कः ॥ २१३ ॥

अर्थ—जीवती हुई एक पत्नी मेरी प्रिया को कभी न कभी अवश्य एकवार देखुंगा ऐसा हृदय में ध्यान करता हुआ और गये हुए दिनों की संख्या को एकान्त में गिनता हुआ, एव मालीकी अनेक प्रकारकी भक्ति से प्रसन्न वत्स-

राज उसी वाटिका में छिपकर-खाता-पीता एवं सोता हुआ सोमदत्त के आगमन की राह देखता हुआ, अपनी धर्मपत्नी की प्राप्ति की आकांक्षा विशेष रूप से करता हुआ समय बीताने लगा ॥ २१२ ॥ २१३ ॥

इति श्री हंसराज वत्सराज कथायां रत्नावली सम्बन्ध वर्णनो नाम चतुर्थः सर्गः ॥

श्री हिमाचलान्तेवासि-मुमुक्षु भव्यानंदविजय कृत हिन्दी भाषानुवाद श्री हंसराज वत्सराज कथान्तर्गत स्त्री वियोग वर्णन नामक चौथा सर्ग समाप्त हुआ।

इति चतुर्थः सर्गः

॥ अथ पञ्चमः सर्गः ॥

अथैकदा सुभार्य्या च मालिकस्य दिनात्यये। जग्धिमादाय चायाता बुभुजे च कुमारकः ॥१॥
उत्सूरेण किमायाता साध्वि ! सत्यं निवेदय। अथारेभे तया वक्तुं श्रृणु चेदस्ति कौतुकम् ॥२॥

अर्थ—कुछ दिनों के बाद एक दिन संध्या के समय मालि की स्त्री भोजन लेकर के आई, फिर भोजन करने के बाद वत्सराज कहने लगा। हे साध्वी ! आज साझ होने पर क्यो आई ! सत्य बात कहो कुमार की बात सुनकर मालिनी ने कहाकि यदि आपको उत्कण्ठा है तो सुनिये ॥ १ ॥ २ ॥

कुशलेनाययौ सोमदत्तोऽद्य सपरिच्छदः। वस्तुभृद्वाहनारूढो नवोढादयितान्वितः ॥३॥
सर्वोऽपि नगरीलोकस्तदालोकनहेतवे। गतोऽभूदहमप्यद्य कौतुकात्तत्र चागमम् ॥४॥

अर्थ—अनेक चीजों से भरे हुए जहाज पर बैठ कर एव नई स्त्री के साथ पोशाक सहित सोमदत्त शेठ कुशल पूर्वक आज आया है। उसे देख ने के लिये नगर के लोक गये थे। और मैं भी देखने की लालसा से वहां पर गई थी ॥३॥४॥

विक्रीणयन्त्याः पुष्पौघं पश्यन्त्याश्च महोत्सवम्। ज्ञातोऽतीतोऽपि नो काल उत्सूरं मे ततोऽजनि ॥५॥

अर्थ—फूलों को बेचती हुई, और महोत्सवको देखती हुई, मुझे विते हुए समय का पता नहीं लगा। इस लिये सांझ होगई ॥

सोऽभ्यधत्त यदीदानीं कथितं मे करिष्यसि। आयासेन विना द्रव्यं प्रभूतमर्जयिष्यसि ॥६॥
आनीय कुसुमस्तोमं मह्यं देहि यथान्वहम्। तुभ्य विविधवर्णाढ्यं हारं कृत्वा समर्पये ॥७॥

त्वं प्रसूनमयं हारं नवोढायै प्रयच्छताम् । एकान्ते प्राभृतव्याजात् सा ते स्वं बहु दास्यति ॥८॥

अर्थ—कुमारने कहा कि यदि इस समय मेरा कहना करोगी तो विना आयास से ही बहुत धन पैदा कर लोगी ॥ तुम मुझे बहुत फूल लाकर के दो, मैं अनेक वर्णों से सम्पन्न उन फूलों का सुन्दर हार बना कर के दूं तुम उस हार को लेजाकर के भेटना के निमित्त से एकान्त में उस नवोढा को दे देना वह तुझे बहुत धन देगी ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥

इति श्रुत्वा तयाऽमोदयन्ति सूनान्यनेकधा । तस्मै दत्तानि हर्षेण धनार्थं किन्न तन्यते ॥९॥

अर्थ—उनके वचन सुनते ही मालिनी ने हर्ष पूर्वक अनेक सुगंधित फूलों को लाकर के कुमार को दे दिया। क्यों नहीं दे! धन के लिये मनुष्य क्या नहीं करता है? अर्थात् सब कुछ कर बैठते है ॥ ९ ॥

धनार्जनकृते केनाप्यापगातीर्य्यतेऽम्बुधिः । उलङ्घ्यते विदेशोऽपि गम्यते क्रियते कृषिः ॥१०॥

तन्नास्ति धरणीपीठे दुःसाध्यं सकलेऽपि हि । पुंसा धनार्थिना सद्यः कर्तुं नोद्यम्यते च यत् ॥११॥

अर्थ—धनके लिये कोई नदीमें तैरता है, कोई समुद्रमें तैरता है कोई विदेश गमन करता है और कोई कृपिकर्म करता है। इस अखण्ड पृथ्वी के ऊपर धनार्थी पुरुप के लिये कोई असाध्य नहीं है। जहां तहां उद्यम करने लग जाता है ॥११॥

आश्चर्यदायकं सोऽपि हारं पुष्पमयं शुभम् । चित्तोल्लासकरं नासानन्ददामोदसुन्दरम् ॥१२॥

निजनामाङ्कितस्वर्णमुद्रिकाद्वयगर्भितम् । अतिशिल्पेन निर्माप्य तस्या हस्ते प्रदत्तवान् ॥१३॥

अर्थ—आश्चर्य को देनेवाला, नाक को आनन्द देने वाला, तथा मन को खुश करनेवाला, अपने नाम से अंकित

मर्त्तमुद्रिका दो से युक्त सुन्दर फूलों का हार अत्यन्त शिल्पकला से पूर्ण बना कर कुमार ने मालिनी के हाथ में दे दिया ॥

तया ढौकनिकाव्याजाद्धारस्तस्यै समर्पितः। आलोकमाना त सापि सौहित्यं नाम सर्वथा ॥१४॥

आससाद तदा सापि हारान्तर्मुद्रिकाद्वयम् । प्रीताभूत्तत्तथा वीक्ष्य यथा सा वेत्ति नापरः ॥१५॥

अर्थ—मालिनी के द्वारा भेट के व्याज से हार समर्पण करने पर रत्नावली निज पति के नामसे अङ्कित अंगूठियों से युक्त हारको पाकर के बडी प्रसन्न हुई। उसके भावोंको जैसे मालिनी समझ रहीथी वैसे कोई समझ न सका ॥१५॥

प्रष्टुकामापि तद्वृत्तमेकान्तं नैव लब्धवान् । दृष्टपूर्वं परं चैतदालोक्य चिन्तितं तदा ॥१६॥

मद्भर्त्ता गुम्फितो यादृग् हारोऽभून्मत्कृते पुरा । तादृगेवास्त्ययं हारो निर्माता पतितोऽम्बुधौ ॥१७॥

अर्थ—समाचार पूछने की इच्छा होने पर भी एकान्त समय नहीं मिला, पहले देखने पर भी इस हार को देखकर रत्नावली चिन्ता करने लगी। अहो! मेरे पति ने मेरे लिये पहले जैसा हार बनाया था। वैसा ही यह हार है परन्तु गूंथ ने वाला तो समुद्र में पड गया ॥ १६ ॥ १७ ॥

अहं तथाप्युपायेन पृच्छामि हारशिल्पिनम् । विमृश्येति तया पृष्टा पुनर्मालिकगेहिनी ॥१९॥

हे सुन्दरि! त्वया वाच्यं सत्यमेव वदैकदा। कण्ठाभरणमेतच्च केन निर्मापितं सखि! ॥१९॥

त्वया पत्या तवान्यैर्वा केनापि स्वजनेन वा। अथ कौतुकिना शिल्पिशिखरेण परेण तु ॥२०॥

अर्थ—फिर भी युक्ति से हार बनाने वाले के विषय में पूछ लेना चाहिये। ऐसा विचारकर रत्नावली मालिनी से

पूछने लगी। हे सुन्दरि ! तूं एकवार सत्य बोलना, कि यह हार किसने बनाया ? हे सखि ! तुमने बनाया है कि तेरे पतिने बनाया है ? या किसी सम्बन्धी ने बनाया है कि कोई कौतुकी शिल्पीने बनाया है ? अवश्य कहो ॥१८॥१९॥२०॥

सावदत्तां विशालाक्षि ! तथ्यमेव वदाम्यहम्। मदारामस्थितेनायमध्वगेन तु गुम्फितः ॥२१॥

तद्दत्तमेनमादाय समेतास्मि तवान्तिकम्। आकर्ण्य तद्गिरं सापि सावहित्था त्वचिन्तयत् ॥२२॥

अर्थ—मालिनी कहने लगी। हे विशाल नेत्रवाली ! मैं सत्य बोल रही हूं कि मेरे बगीचे में रहे हुए किसी एक पथिक ने इस हार को गूंथा है। और उसके द्वारा दिये गये इस हार को लेकर के तेरे पास आई हूं। मालिनी के वचन सुन रत्नावली दुःख को छिपाकर विचार करने लगी ॥ २१ ॥ २२ ॥

चित्त ! प्राप्नुहि नैर्मल्यं त्यजतं रुदनं दृशौ !। जीवत्यद्यापि मे कान्तः प्रेषितस्तेन हि त्वयम् ॥२३॥

मज्ज्ञापनकृते तेन क्षिप्त्वाङ्गुलीयकद्वयम्। मत्कृते प्रेषितश्चास्याहारः पुष्पमयः करैः ॥२४॥

अर्थ—हे मन ! निर्मलता को प्राप्त कर, हे आंखे ! रोना बंद कर। क्योंकि आज भी मेरा पति जीवित हैं। उसीने यह हार भेजा है। दोनों अंगूठियों से युक्त सुन्दर हार बनाकर मुझे समझाने के लिये इस मालिनी के मारफत भेजा है ॥

मयात्र नैव वक्तव्यं येन स्यात्कर्णषट्कता। आरातीनामविश्वासः करणीयो निरन्तरम् ॥२५॥

अद्यापि जीवमानस्तु चेत्कदापि भविष्यति। निःसंदेहतया तर्हि सोऽपि मह्यं मिलिष्यति ॥२६॥

अर्थ—मुझे यहां पर नहीं बोलना चाहिये, जिससे ४ कान से छ कान हो जाय, क्योंकि शत्रुओं का कभी विश्वास

नहीं करना चाहिये। अगर आज भी जीवित ही होगें तो वे मुझे कभी न कभी जरुर ही मिलेगें ॥ २५ ॥ २६ ॥

विचार्य सा ददौ तस्या अनर्घ्यं चारु कङ्कणम्। तत्र गत्वा ततस्तस्मै तत्प्रदर्श्य च जल्पितम् ॥२७॥
कृपोपकारसद्बुद्धिनिधान ! त्वत्प्रसादतः। दुष्प्राप्यश्च मया प्राप्तं नेपथ्यं वज्रमण्डितम् ॥२८॥
तद्दिनात्तौ विशेषेण भक्तिं वितनुतोऽधिकाम्। गुणवन्तो हि पूज्यन्ते सर्वत्राऽपि निजैर्गुणैः ॥२९॥

अर्थ—विचार करके रत्नावलीने बहु मूल्यक कंकण मालिनीको दे दिया। कुमार के समीप आकर के कंकण को बताती हुई मालिनी ने कहा कि हे कृपालु ! उपकारी ! और सद्बुद्धि के भंडार ! आपकी दया से वज्र से सुशोभित और दुर्लभ नेपथ्य को मैंने प्राप्त किया ॥ २७ ॥ २८ ॥ उस दिन से मालिनी और माली विशेष रुपसे अधिकाधिक भक्ति करने लगे। क्यो न करें ? गुणी व्यक्ति अपने गुणो से सब जगह पूजे जाते है ॥ २९ ॥

अन्यदा सोमदत्तस्तूत्सवेन महता सह। रत्नावल्यायुतो गेहमियायोत्तीर्यवाहनात् ॥३०॥

अर्थ—एक दिन रत्नावली के साथ सोमदत्त जहाज से उतरकर महान् उत्सव के साथ अपने घर आ पहुंचा ॥३०॥

नमश्चक्रे तदादेशात्पूज्यवर्गौं निजस्तया। सर्वेषां निजबन्धूनां मिलितः सोऽपि हर्षितः ॥३१॥

अर्थ—घर पहुंचने के बाद सोमदत्त के आदेशानुसार रत्नावलीने पूज्य वर्गों को नमस्कार किया। तथा सोमदत्त हर्षपूर्वक भाई बन्धुओ से मिला ॥ ३१ ॥

बन्धुभिस्तैरसौश्रेष्ठी ज्ञापितश्चेतिकारणम्। दुःखितोऽस्ति नृपोऽतीव भ्रातृदुःखेन सांप्रतम् ॥३२॥

सभायामपि नायाति राज्यचिन्तां मनागपि। न विधत्ते नृपो गीतवाद्यनृत्यकथापि का ॥३३॥

अर्थ—बन्धुवर्ग ने शेठ को कहा कि आज कल राजा भाई के दुःखसे बडे दुःखी रहते है. सभा में भी नहीं आते है, और थोडी भी राज्य चिन्ता नहीं करते है तो गीत बाजा और नाच की तो कथा ही क्या ? ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

एकदा मरणारम्भं कुर्वन्नासीच्च भूपतिः। परन्तु मंत्रिवर्गेण वारितश्चेति वाक्यतः ॥३४॥

महाराज! पुरीमध्ये पटहोद्घोषणां भृशम्। विधापय यथा भ्रातृकथावासिर्भवेत्तव ॥३५॥

अस्यां त्र्यम्बावतीपुर्य्यां त्वत्सोदरचरित्रवित्। अवश्यं दैवयोगेन कोऽपि क्वापि भविष्यति ॥३६॥

अर्थ—एक समय राजा मरने के लिये तैयार हो गया. परन्तु मंत्रियों ने समझा-बुझा करके बचा दिये ॥३४॥ और कहाकि हे महाराज! नगर के बीच ढोल बजवा दिया जाय. जिससे कि आपके भाईका समाचार आपको मिल जायगा। क्योंकि इस त्र्यम्बावती नगरी में आपके सगे भाई का समाचार जाननेवाला कोई न कोइ दैवयोग से अवश्य होगा ॥३५॥

तद्दिनादुपदेशाच्च मंत्रिभिरवनीपतिः। पटहोद्घोषणामत्र विधापयति सर्वदा ॥३७॥

अतस्त्वया न गन्तव्यं नृपदर्शनहेतवे। अधुनावसरो नास्ति सर्वथा श्रेष्ठिपुङ्गवः ॥ ३८ ॥

अर्थ—उस दिन से मंत्रियों के उपदेश से राजा हर हमेश नगर में ढोल बजवाता है ॥ इसलिये हे शेठ! राजा के दर्शन के लिये इस समय नहीं जाना चाहिये। क्योंकि दर्शन करने का यह अवसर सर्वथा उचित नहीं है ॥ ३७-३८॥

अम्भोनिधेस्तटे पोतं तावकीयञ्च तिष्ठतु। चित्रपण्यभृतं तावन्नृपाज्ञा स्यान्न यावता ॥३९॥

श्रेष्ठ्युवाच करिष्येऽहं प्रमाणं भवतां वचः। उत्सुकेनापि कर्त्तव्यं विमृश्यैव हि धीमता ॥४०॥

अर्थ—और-जबतक राजाकी आज्ञा न हो तबतक अद्भूत बेचने योग्य चीजों से भरे हुए जहाज सब समुद्र के तट पर ही रहने दीजिये ॥ प्रत्युत्तर में शेठने कहाकि आप सब के प्रमाणभूत वचनका अवश्य पालन करुंगा, क्योंकि बुद्धिमानों का कर्त्तव्य है कि उत्कण्ठा होने पर भी विचार करके ही काम करना चाहिये ॥ ३९ ॥ ४० ॥

आजगाम निजं सद्माशयान्तश्चिन्तयन्निति। अद्याप्यस्त्यम्बुधेस्तीरे पोतं मे धनपूरितम् ॥४१॥

अर्थ—धन से भरा हुआ मेरा जहाज आज भी समुद्र के तट पर ही है ऐसी मानसिक चिन्ता करता हुआ शेठ अपने घर आ पहुचा ॥ ४१ ॥

त्रिंशल्लक्षाणि हेम्नां तु सन्ति प्रवहणे मम। तदद्यापि बहिस्तर्हि किं कुर्वेऽहं मतिर्न मे ॥४२॥

इत्यादि चिन्तयन् श्रेष्ठी वासरानत्यवाहयन्। नाललाप च तां रत्नावलीं चित्तसुख विना ॥४३॥

अर्थ—जहाज में मेरा तीस लाख सुवर्ण आज भी बहार ही पडा है लेकिन क्या करु ? मेरी बुद्धि भी नही है। इत्यादि सोचता हुआ शेठ दिन बीत जाने पर भी मन की अप्रसन्नता के कारण रत्नावलीसे भी नहीं बोला ॥४२॥४३॥

अथान्यदा तया पुर्यां पटहोद्घोषणश्रुता। गृहासन्नमहीभागसौधवातायनस्थया ॥४४॥

पृष्टस्तया समीपस्थो भृत्य ! पार्श्वे किमत्र भोः !। वाद्यते कथ्यते किं तैश्चेद् ज्ञातं स्यात्ततो वद ॥४५॥

अर्थ—एक दिन घर के समीप पृथ्वी के एक भाग में प्रसाद के झरोखे में बैठी हुइ रत्नावलीने उस नगर में ढोल

की आवाज सुनी। उसके बाद समीपस्थ नोकरको पूछा कि हे भृत्य! पीछे के भाग में यह क्या बज रहा है? और क्या बोल रहा है? अगर तूं जानता हो तो बोल ॥ ४४ ॥ ४५ ॥

स आह सम्यगेवाहं वेद्मि श्रृणु निवेदये। राजादेशेन तद्भृत्यैः क्रियते पटहध्वनिः ॥४६॥
एवञ्च कथ्यते भृत्यैश्चरितं यो वदिष्यति। विख्यातं हंसराजस्य वत्सराजयुतस्य च ॥४७॥
अर्धराज्यं नृपस्तस्मै दास्यत्येव न संशयः। अर्थेऽस्मिन् संभवन्नास्ति साम्प्रतं पटहध्वनिः ॥४८॥

अर्थ—नोकरने कहा कि मैं ठीक ठीक जानता हूं। सुनिये मैं कह रहा हूं। राजा के आदेश को पाकर नगारा नोकर बजा रहा हैं। और कहता है कि वत्सराज सहित हंसराज की कहानी जो सुनावेगा उसको राजा अधा राज्य दे देगा। इस में कोई शक नहीं। परन्तु इस कार्य में सफलता मिलना असम्भव है फिर भी इस समय ढोल बजा रहा है ॥

तयोचेऽहं पुरस्तस्य सम्यग्वेद्मि तयोः स्फुटम्। वृत्तं गिरः प्रसादेनाश्रुतमप्यखिलं ननु ॥४९॥

अर्थ—रत्नावलीने कहा कि मैं वत्सराज सहित हंसराजकी कथा अच्छी तरह जानती हूं। और सरस्वतीकी कृपासे विना सुनी कहानीभी राजा के सामने कह सुनाउंगी ॥ ४९ ॥

रत्नावलीवचस्तत्र सोमदत्तेन शुश्रुवे। निजगेहस्थभृत्योक्तवार्ताकर्णनयोगतः ॥५०॥
श्रेष्ठिनापि हि सा पृष्टा वेत्सि त्वं चरिते तयोः। तयेत्युक्तं प्रसादेन गिरः सम्यग्वेद्म्यहम् ॥५१॥

अर्थ—रत्नावली की सारी बात नोकरों की कानाकानी से सोमदत्त शेठने भी सुन ली। उस के बाद शेठने रत्नावली

को पूछा कि तुम दोनों के चरित्र को जानती हो, प्रत्युत्तर में उसने कहा कि मैं सरस्वती की कृपासे अच्छी तरह जानती हूं॥

उचिवांश्च पुनस्तां स तर्हि गत्वा नृपान्तिकम् । वच्मि सोऽपि यथा तुष्टोऽनुग्रहं कुरुते मम ॥५२॥
भूपं विज्ञापयामास श्रेष्टि गत्वेति भूधन ! । विदेशागता मत्कान्ता तयोर्वृत्तं गदिष्यति ॥५३॥

अर्थ—फिर रत्नावली को सोमदत्तने कहा कि अब मैं राजा के पास जाकर के कहता हूं वे भी तुष्ट हो कर के मेरे ऊपर कृपा करेंगें ॥५२॥ शेठ राजा के पास आकर कहने लगा कि हे राजन्! विदेश से आई हुई मेरी पत्नी उन दोनों के चरित्र को कह सुनावेगी ॥ ५३ ॥

मुदीतातीव सायाता नरेशाऽकारिता सती । जवनिकान्तरे चोपविष्टानरवराज्ञया ॥५४॥
क्षितिपस्याज्ञयाम्भोधिमज्जतान्तं सत्वरम् । कर्णयोश्चातिकटुकं तद्वृत्तं सान्यवेदयत् ॥५५॥

अर्थ—इस के बाद-नरपति द्वारा बुलाई गई सती खुब हर्षित होकर राजा के पास आकर के. उनके आदेशानुसार पर्दा के अन्दर बैठी हुई रत्नावलीने जल्दी से कानों में कडुआ लगने वाला शब्द यहां तक कह सुनाया कि राजा का भाई वत्सराज समुद्र में डूब गया ॥ ५४ ॥ ५५ ॥

कृत्स्नं तच्चरितं श्रुत्वा मुमुर्च्छातीव पार्थिवः । लब्धसंज्ञः पुनः क्ष्मापश्चिन्तयामास साश्रुदृक् ॥५६॥
अधुना जीवितेनालं राज्येन च ममाप्यहो । मद्बन्धुः सुन्दराकारो मज्जति स्माम्बुधौ यदि ॥५७॥

अर्थ—थोडा चरित्र सुनतेही राजा मूर्छित हो गया । फिर कुछ समय के बाद स्वस्थ होकर के आंसुओं से भरे हुए

नेत्रपूर्वक चिन्ता करने लगा। अहो! यदि सुन्दर आकृतिवाला मेरा भाई समुद्र में डूब गया तो मेरा जीवन और यह राज्य आदि सब व्यर्थ है॥ ५६ ॥ ५७ ॥

तद्विना सर्वशून्यं मे जायतेस्म करोमि किम्। विना सोदरमात्मीयं दिनं मा यातु कस्यचित् ॥५८॥
सर्वां विमर्शनां हित्वा दुःखस्यान्तो विधीयते। मरणं शरणं मेऽस्तु दुःखच्छेदोऽन्यथा कथम् ॥५९॥

अर्थ—भाई के विना मेरेलिये सब सूना ही सूना है, क्या करुं? किसीको भी अपने सोदर भाई के विना दिन मत जाओ। ऐसा मानसिक विचारपूर्वक राजा कहता है कि सब को छोडकर दुःख का अन्त करनेवाला मेरा शरण मरण हो अन्यथा दुःख का नाश कैसे होगा? अर्थात् मरण के विना दुःख का नाश सर्वथा असम्भव है॥ ५८ ॥ ५९ ॥

भूभृज्जगादमन्त्रीशमाहूय नरवाहनम्। भ्रातृमृत्युभवं दुःखं मया सोढुं न शक्यते ॥६०॥
अतो मंत्रोन्नदीतीरे मत्कृते क्रियतां चिता। मन्त्र्युवाच प्रभो! ज्ञाता बन्धुवार्ता त्वया कुतः ॥६१॥
राज्ञा निवेदितं मंत्रिन्! सोमदत्तस्य जायया। वृत्तमेतन्मम प्रोक्तं ब्राह्म्या एव प्रासादतः ॥६२॥

अर्थ—राजवाहन नामक मंत्री को बुलाकरके राजाने कहा कि भाई की मृत्यु से उत्पन्न हुए दुःख को मैं सहन नहीं कर सकता॥ इसलिये हे मंत्रिन्! मेरे लिये नदी के तटपर चिता तैयार करो। मंत्रीने कहा कि हे प्रभो! आपने भाई की कथा कहांसे सुनी? फिर राजाने कहा कि हे मंत्री! सोमदत्त की स्त्रीने सरस्वती की कृपा से यह समाचार मुझे सुनाया॥

अथावदत् पुनर्मन्त्री स्वामिन्! सा पृच्छयते पुनः। वार्द्धौ यः पतितस्त्वासीत् स क्वापि विद्यते न वा॥

राज्ञा पृष्टा पुनः सा च सुन्दरि ! त्वमसंशयम् । सर्वं वेत्सि परं ब्रूहि स मृतः किन्तु जीवति ॥६४॥

अर्थ—फिर मंत्रीने निवेदन किया कि स्वामिन् ! एकबार फिर उसे पूछा जाय कि समुद्र में पड गया था परन्तु वह कहीं पर है या नहीं ? मंत्री के वचनानुसार राजाने रत्नावली से पूछा कि हे सुन्दरी ! तुम सब निश्चयपूर्वक जानती हो, परन्तु यह तो बताओ कि वह मर गया है या कहीं जिन्दा है ? ॥ ६३ ॥ ६४ ॥

आह सा श्रृणु राजेन्द्र ! विजयी सोऽधुनास्त्यपि। दातृणा भोगिनां मुख्यः प्रासरेखो मनस्विनाम्॥६५॥

नान्यथा मद्वचो ज्ञेयं यदिस्यात्संशयो हृदि । तर्हि गत्वा नृसिंहाख्य मालिकाराम ईक्ष्यताम् ॥६६॥

इत्याकर्ण्य नृपोऽत्यर्थं मुदितोऽभून्निजाशये । तदानीम्प्रेषयामास मंत्रिपुत्रश्च तत्र तम् ॥६७॥

अर्थ—राजा की आज्ञा पाकर रत्नावली कहने लगी । हे राजेन्द्र ! वह सर्वदा विजयी, दानी और भोगी में मुख्य है, मनस्वियों का मुकुटालंकार है और आज भी वह जीवित ही है । मेरी बात सत्य समझें । अगर मेरी बात पर संदेह हो तो नृसिंह नामक माली के बगीचे में जाकर देख लीजिये ॥ रत्नावली की बातें सुनकर राजा हृदय में बडा खुश हुआ । उसी समय राजाने मंत्री पुत्र को उस बगीचे में भेज दिया ६५ ॥ ६६ ॥॥ ६७ ॥

नृपादेशेन तेनापि तत्र गत्वा निरीक्षितम् । दृष्टः कोऽपि पुमांस्तत्रोपविष्टः पुण्यसेवधिः ॥६८॥

मंत्रीणा तं नमस्कृत्य पृष्टं स्वामिन् ! कुतोऽधुना । समेतोऽसि क्व गन्तासि किमर्थमत्रतिष्ठसि ॥६९॥

अर्थ—राजा के आदेशानुसार वहां जाकर के उसने निरीक्षण किया, फिर पुण्य को सेवन करनेवाला एक पुरुष को

वहां बैठा हुआ देखा। देखते ही उसे नमस्कार कर के पूछा, हे स्वामिन्! अभी आप कहां से पधार रहे है? कहां जाना चाहते है? और यहां पर क्यों ठहरे हो? ॥ ६८ ॥ ६९ ॥

सोऽवादीदहमध्वन्योऽस्म्यतो भूमिं विलोकये। कुण्डिनाख्यपुरायातो यास्यामि वलभीं पुरीम् ॥७०॥
न दस्युर्नृपतेश्चाहं बिभेमि द्रविणोज्झितः। विविक्तवाटिकायां तु तिष्ठामि दम्भवर्जितः ॥७१॥

अर्थ—वह बोला-मैं पथिक हूं, पृथ्वी को देखने के लिये भ्रमण करता हूं-कुण्डिन नामक नगर से आया हूं. और वलभीपुर जाउंगा। मैं चोर नहीं हूं जिससे कि राजासे डरुं! निर्धन जरुर हूं, इसलिये कपट रहित इस बगीचेमें ही ठहरा हूं॥

तदाख्यातं हृदि ध्यायन्नाययौ क्षितिपान्तिकम्। यथाश्रुतं यथादृष्टमाचख्यौ मंत्रिशेखरः ॥७२॥

अर्थ—कुमार के कहे हुए वचनों को ध्यान में रखता हुआ राजा के पास आकर के मुख्य मंत्रिने जैसा सुना और जैसा देखा वैसा ही कह सुनाया ॥ ७३ ॥

तच्छ्रुत्वा वाटिकायां तु स्वयमेव नृपो गतः। वत्सराजं निजं बन्धुं दृष्टवानतिदुर्बलम् ॥७३॥
सोत्कण्ठो गाढमाश्लिष्य निजबाहुयुगेन तम्। शिरस्याघ्राय सौदर्य्यमुपविष्टो विशाम्पति ॥७४॥

अर्थ—मंत्री की बात सुनकर राजा स्वयं ही बगीचे में गया। और वहां पर अपने भाई वत्सराज को अत्यन्त खिन्न देखकर उत्कण्ठा पूर्वक निज दोनों बाहुसे खुब आलिङ्गन करके तथा शिरको सुंघ करके भाईके समान आसन पर बैठ गया॥

नम्रेण शिरसा नत्वा भक्त्या निजसहोदरम्। लगित्वा पादयोस्तस्थावनुजो नतकन्धरः ॥७५॥

आलापितो नृपेणेति स्नेहपूर्वं निजानुजः। अद्यधन्यतमश्चाहं पुण्यवानद्य भाग्यवान् ॥७६॥
अद्य मज्जीवनं शस्यं राज्यं मम सनातनम्। कृतार्थतां गतो यस्माज्जीवन् दृष्टो भवान्मया ॥७७॥

अर्थ—वत्सराज नतमस्तक हो अपने भाई को प्रणाम करके भाईके चरणों में शिर रख कर बैठ गया। फिर राजा स्नेहपूर्वक छोटे भाई को कहने लगा। भाई! आज मैं धन्य हू, और भाग्यवान हू कि आज मेरा जीवन सफल हुआ। और राज्य भी सदा रहने वाला हो गया। और जीवित तुमको देखकर मैं सचमुच कृतार्थ हो गया ॥७५॥७६॥७७॥

इत्यादि प्रेमवाक्यानि विविधान्युद्गिरन्नृपः। स तमाह गृहं बन्धो! समेहि मां कृतार्थय ॥७८॥

अर्थ—इत्यादि अनेक प्रकारके प्रेम भरे वाक्योसे बोलते हुए राजाने कहाकि हे बन्धो! घर चलो और मुझे कृतार्थ करो

पञ्चवर्णमयीभिस्तु ध्वजाभिः समलङ्कृता। चतुष्पथाऽऽपणश्रेणि मण्डिता मौक्तिराजिभिः ॥७९॥
सौधान् धवलितान् स्वीयांश्चकार चित्रिताङ्गनः। सर्वत्र मञ्चवैचित्र्यं विततान चतुष्पथे ॥८०॥

अर्थ—इसके बाद राजा की आज्ञा के अनुसार बजार व दुकानो की कतार पञ्चरंगी ध्वजा तथा मोतियों से सुन्दर सजाई गई। अपने अपने मकान को नागरिक लोगोंने स्वच्छ बना दिया। और सब चौराहे पर चित्र विचित्र अच्छे अच्छे आसन लगवाये गये ॥ ८० ॥

गीतमानं गृहे गेहे चक्रुः प्रमुदिताङ्गना। तारस्वरेण श्रृंगारधारिण्यः स्वेच्छया तदा ॥८१॥

अर्थ—श्रृंगार को धारण करती हुई प्रसन्न नारियां अपने २ घरमें उच्च स्वर से गीत गाने लगी ॥ ८१ ॥

नृपेणाकार्यमारिस्तु पुरे दिवससप्तकम् । सोदरागमतुष्टेनाखिलभव्यजनप्रिया ॥८२॥
विचित्रातोद्यनिर्घोषो दध्मानश्रवणप्रियः । नृपसौधप्रतोलीषु निखिलासु परत्र च ॥८३॥

अर्थ—सोदर-भाई के आगमन से सन्तुष्ट हुए राजा ने स्वेच्छा पूर्वक नगर में सात दिन तक अमारी पटह बजवा दिया । जिस से जनता बडी प्रसन्न हुई । और प्रत्येक राजभवन के राज मार्ग पर तथा राजमहल में श्रवण प्रिय आतोद्य नामक बाजा बजने लगा ॥ ८२ ॥ ८३ ॥

वन्दिवृन्देषु कुर्वत्सु चित्रं जयजयारवम् । दीयमानेषु दानेषु याचकानां पदे पदे ॥८४॥
वाद्यमानेषु सर्वेषु वादित्रेषु निरन्तरम् । गीयमानासु योषित्सु कुशलासु कलस्वरम् ॥८५॥
स्वस्ववेश्मगवाक्षस्थसधवाललनाक्षतान् । गृह्णवता तत्प्रदत्ताश्च त्वाशिषः श्रृण्वता पुनः ॥८६॥
भूपतिना दिने शस्ये वत्सराजः स्वसोदरः । सौधं स्वकीयमानीत उत्सवेन महीयसा ॥८७॥

अर्थ—उस समय-बंदिगण भी तरह तरह के जय जय शब्द बोलने लगे, पद पद पर याचकों को दान दिया जाने लगा । सब तरह के बाजा बजने लगे, पटु नारियां मीठे मीठे स्वर में गाना गाने लगी । और अपने अपने घर के—झरोखे में बैठी हुई सधवा स्त्रियों से दिये गये अक्षतों को लेता हुआ और उनसे दिया गया आशीर्वाद को सुनता हुआ राजा अच्छे दिन में महान् उत्सव के साथ भाई वत्सराज को अपने राजमहल में ले आया ॥८४॥८५॥८६॥८७॥

तदोपविश्य भूपेन विज्ञप्तो निजबान्धवः । ममानुजोऽसि वत्स ! त्वमतोऽहं ते निवेदये ॥८८॥

निर्विण्णोऽस्मि चिरं राज्यपालनादतिदुष्करात्। अतो मद्वचनादेतदादत्स्व मा विमर्शय ॥८९॥

अर्थ—राजभवन में आने के बाद बैठ कर राजाने भाई को कहा कि हे-वत्स ! तुम मेरा छोटा भाई हो इसलिये कहता हू कि मैं बहुत दिनों से अत्यन्त कठिन राज्यके पालन से थक गया हू । अतः मेरे वचन से तुम इसे संभालो । और इस में दूसरा कोई विचार मत करो ॥ ८८ ॥ ८९ ॥

अथानुजेन गदितं मावोचस्त्वमिदं पुनः । न शक्यते मया कर्तुं राज्यं त्वदनुजीविना ॥९०॥

दुःखावासौ मयाप्तौ त्वद्पादौ दैवयोगतः । अतो रात्रिन्दिवं सेवां करिष्ये क्रमयोस्तव ॥९१॥

अर्थ—वत्सराजने कहाकि हे राजन् ! आप फिर से ऐसा वचन मत कहिये, क्योंकि मैं आपका सेवक हू, राज्य नहीं कर सकता। दुःख प्राप्त करनेपर भी दैवयोगसे आपके चरणों में आ चूका हू। इसलिये रात दिन आपकी सेवा करता रहूंगा

इति तद्भाषितं श्रुत्वा प्रीतो धात्रीपतिस्तराम् । ददौ निजानुजायाथ राज्यस्यार्द्धं बलादपि ॥९२॥

नृपाज्ञया पृथक् तस्थौ मंदिरे सप्तभूमिके । वत्सराजः परं चित्ते चिन्तयत्येव मन्वहम् ॥९३॥

अर्थ—इस प्रकार छोटे भाई के वचन सुन कर राजा हंसराज बडा प्रसन्न हुआ । और बलात्कार पूर्वक अपने छोटे भाई को आधा राज्य दे दिया । राजा की आज्ञा से वत्सराज अलग सात मंजिल वाले मकान में रहने लगा किन्तु रात दिन मन ही मन चिन्ता किया करता था ॥ ९२ ॥ ९३ ॥

एकदाऽवसरं प्राप्य विज्ञाप्यावनिवल्लभम् । सोमदत्तगृहस्थां तामानयाम्योकसि प्रियाम् ॥९४॥

अर्थ—एक दिन समय पाकार राजाको कहकरके सोमदत्त के घरमें रही हुई पत्नीको अपने घर ले आउं ?॥ ९४ ॥

समेतस्त्वेकदा वत्सराजो नृपतिसंसदि। सोमदत्तोऽपि तत्रैवाययौ विधिनियोगतः ॥९५॥

अर्थ—एक दिन वत्सराज राजसभामें आया था उस समय भाग्यवश सोमदत्त भी वहीं पर आ गया ॥ ९४ ॥

तेनोपलक्ष्य तं रत्नावलीपतिमचिन्ति च। स एवायं मया यस्त्वम्बुधौ क्षिप्तोऽभवत्तदा ॥९६॥
निर्गतोऽयं कथं जीवन् बलात्क्षिप्तोऽपि वारिधौ। अथवा किं विकल्पेन गच्छामि नयनाग्रतः ॥९७॥

अर्थ—सभा में आया हुआ सोमदत्त वत्सराज को देखते ही सोचने लगा कि यह तो रत्नावली का पति है। समुद्र में इसको पटक दिया था! बलात्कार पूर्वक समुद्र में गिरा देने पर भी जिन्दा कैसे निकल गया? अथवा संकल्प विकल्प करने से क्या? नजर के सामनेसे चला जाउं ॥ ९६ ॥ ९७ ॥

विचार्य यावता गन्तुं लग्नः सोऽभूच्च तावता। आभापितस्तदा श्रेष्ठी क्षितीश्वरानुजेन च ॥९८॥
कुशलेनाम्बुधिं तीर्त्वा कदास्त्वमागतस्त्विह। भवान् किं मा न जानासि त्वत्सार्थिकोऽस्मि नापरः॥

अर्थ—इस प्रकार विचार कर सोमदत्त जाने लगा. तब राजा के छोटे भाई वत्सराजने शेठ को कहा. कि कुशलपूर्वक समुद्र पार करके कब यहां आये हो? क्या मुझे नहीं जानते हो? मैं वही तेरा साथी हूं. दूसरा नहीं हूं ॥ ९८ ॥ ९९ ॥

श्रुत्वेति मौन माधायावाङ्मुखस्तस्थिवान् स तु। तदा भूपतिना पृष्टं कथं त्वयोपलक्ष्यते ॥१००॥

अर्थ—वत्सराजके वचन सुनते ही मौन धारण कर बैठ गया तब राजाने वत्सराजको पूछा कि तुम:इसे कैसे पहचानते हो

सोऽप्युवाच नरेशस्य सम्यग्जानेऽहमादितः। यत्नेन रक्षणीयोऽयं मा यातु तव संसदः ॥१०१॥
कथयिष्यामि वृत्तान्तमनुभूतं मयैव हि। निषिद्धः सोऽपि भूपेन गृहं गच्छन्निज बलात् ॥१०२॥

अर्थ—वत्सराजने राजा को कहा कि मैं इस को आदि से अच्छी तरह जान रहा हूं. इस की रक्षा अच्छी तरह करना चाहिये जिससे कि सभा से भाग न जाय। मेरे अनुभव की हुई इसकी कहानी मैं ही कहूंगा। इस प्रकार भाइ के वचन सुनते ही राजाने बलात्कार पूर्वक घर जाने से उसको रोक दिया ॥ १०१ ॥ १०२ ॥

स्वानुजः समये राज्ञा पृष्टोऽथाख्यन्नृप ! श्रृणु। इदानीमस्य वृत्तान्तं संक्षेपेण निवेदये ॥१०३॥

अर्थ—राजाके पूछने पर समयपर वत्सराजने कहा कि हे राजन् ! इसकी कहानी मैं संक्षेप से कह रहा हूं आप सुनिये ॥

आवां तातापमानेन निसृतौ नगरात्तदा। हयारूढावतिक्रम्याटवीमेकत्र तस्थतुः ॥१०४॥
तदा त्वं तृषितो जाते हययुतोऽप्यहं यदा। त्वदादेशेन पानीयहेतवेऽगां जलाशये ॥१०५॥

अर्थ—पिताश्रीजी के अपमान से अपने दोनों भाई नगर से विदा होगये फिर घोडे पर सवार हो वन को उलंघन करके एक जगह ठहर गये. इतने में आपको प्यास लगी. फिर आपका आदेश पाकर घोडों के साथ ही मैं जल लेने के लिये तालाब की तरफ चला गया ॥ १०४ ॥ १०५ ॥

यावतोदकमादायायातस्तत्र त्वदन्तिके। तावता त्वं मया दृष्टः शवरूपो विचेतनः ॥१०६॥
ततश्चेतो दृढीकृत्याऽगतोऽस्मि नगरे त्वहम्। चितोचितेन्धनान्याशु गृहीत्वा चचले यदा ॥१०७॥

तदा तत्र मया क्वापि दृष्टं न त्वत्कलेवरम् । रुदन् विनिर्ययौ तस्माद्रोदयन्नपि पक्षिणः ॥१०८॥

अर्थ—मैं जल लेकर वापिस आपके पास आया तो आप का चेतन रहित मृत शरीर को मैने देखा। फिर मैंनें हृदय को दृढ करके नगर में गया. और चिता के योग्य लकडी लेकर के वापिस जल्दी आगया. फिर वहां पर आपका कलेवर नहीं पाया। तब विह्वल होकर रोता हुआ तथा पक्षियों को भी रूलाता हुआ वहांसे चल पडा ॥१०७॥१०८॥

समेतोऽस्यां पुनः पुर्य्यामनेनाऽहं निरीक्षतः। इन्द्राश्वजिद्धयद्वन्द्वान्वितो भूषणभूषितः ॥१०९॥

अहं मायाविनानेन गृहं नीतोऽतिहर्षतः। अतीवावर्जितस्तत्र भक्तिभिर्दिनसप्तकम् ॥११०॥

अर्थ—वहां से यहां आया कि इन्द्रके घोडे को जीतने वाले दो घोडों के साथ और आभूपणों से भूपित मुझे इस दुष्टने देखा. फिर अत्यन्त हर्ष के साथ मुझे यह मायावी अपने घर ले गया। सात दिन तक खुब प्रेमसे रखा ॥१०९॥११०॥

एकदा पापिनानेन मां निक्षिप्यावनीगृहे। ममोक्तं रे कथं पापिन्! भूपाश्वयुगतस्कर! ॥१११॥

चौर्य्यं कृत्वा कथं साधुवन्मत्सद्मसमागतः। भूपानुजीविभिर्वाजिद्वयमद्य हृतं तव ॥११२॥

पश्यन्तः संति तेऽद्यापि दस्युत्वात्त्वां गृहे गृहे। अतस्त्वया तथास्थेयमत्र त्वां कोऽपि वेत्ति न ॥११३॥

अर्थ—एक दिन यह पापी मुझे तलघर में छोडकर कहने लगा। अरे! पापी! राजा के दो घोडोंको चुरानेवाला! चौरी करके साधु के जैसा मेरे घरमें कैसे आगया? आज तेरे घोडां को राज सेवक ले गये और चौरी करने के हेतु तुम को घर घर में ढूंढ रहे है। इसलिये तूं यहां पर ही ऐसा रहना कि तुम को कोई न जान सकें ॥१११॥११२॥११३॥

अहं तत्र स्थितः कष्टादेकविंशतिवासरान् । असौ तदा निजं पोतं सज्जीकृत्य चचाल च ॥११४॥

अर्थ—मैं एकवीश दिन वहां कष्ट पूर्वक रहा. फिर इसने अपने जहाजों को तैयार करके चलना शुरु किया ॥११४॥

सर्वथापि परं पोतं न चलेत्पदमात्रकम् । तदैव व्यन्तरीकाचिन्नभःस्थामुं जगाद च ॥११५॥

द्विजसंख्यलक्षणभृन्नरामिषप्रदेशनात् । यदा मां प्रीणयेः पोतं तदा स्यात् शीघ्रगामिकम् ॥११६॥

अर्थ—अनेक आयास करने पर भी जब जहाज नहीं चला. तब आकाश में रहनेवाली किसी देवीने इसको कहा कि बत्तीस लक्षणों से युक्त मनुष्यके मांस के भेटने से मुझे प्रसन्न करोगे तब जहाज शीघ्र चलेगा ॥ ११५ ॥ ११६ ॥

श्रुत्वेत्यनेन तत्रैव मामाकार्येति जल्पितम् । देवीकोपोपशान्त्यर्थं त्वा हनिष्यामि नान्यथा ॥११७॥

अर्थ—इस प्रकार देवीकी बात सुनकर इसने मुझे वहीं बुलाकर कहा कि देवीके क्रोधकी शान्तिके लिये तुझे मारुंगा ॥

मया तद्भापितं श्रुत्वा जल्पितं श्रेष्ठिपुङ्गव ! । त्वद्यानं चालयिष्यामि मां मारय वृथैव मा ॥११८॥

गदित्वेति मया पञ्चपरमेष्ठिस्मृतिः कृता । तत्प्रभावात्सुरी तुष्टा प्रतस्थे च सुपोतकम् ॥११९॥

अर्थ—पापी के वचन सुनकर मैंने कहा कि हे श्रेष्ठिवर ! तेरे जहाज को मैं चलादूंगा । मुझे व्यर्थ मत मारो । इतना कहकर मैंने पञ्च परमेष्ठी नमस्कार महामंत्रका स्मरण किया, जिससे देवी सन्तुष्ट हो गई । और पोत भी चलने लग गया ॥

स्तोकैरेव दिनैः प्राप्तं सिंहलद्वीपमण्डने । क्षेमेण यानपात्रञ्च पुरे रत्नपुराभिधे ॥१२०॥

अर्थ—थोडे ही दिनोंके बाद सिंहलद्वीप के मुकुटालंकारभूत रत्नपुर नामक नगर में जहाज कुशल पूर्वक पहुंच गया ॥

अनेन विविधं वस्तुविक्रीयवाजिराशयः। गृहीतास्ते पुनर्मह्यं दत्तारक्षणहेतवे ॥१२१॥
तद्रक्षणमहं कुर्वं तिष्ठाम्यस्य निकेतने। एवं कल्पान्त तुल्यानि वासराणि नयाम्यहम् ॥१२२॥

अर्थ—इसनें अनेक चीजों को बेचकर अनेक घोडोंको खरीद लिया, और पालनेके लिये मुझे सौंप दिया। इस के बादमें इसके घर ही रहता हुआ घोडोंका पालन पोषण करने लगा। इस प्रकार कल्पान्त कालवत् दिन व्यतीत करने लगा ॥

इतश्चास्ति पुरे तत्र ताम्रचूडो महीपतिः। रत्नावलीति तत्पुत्री काले तारुण्यमाप सा ॥१२३॥
परं न रोचते तस्यै यादृक् तादृक् वरः खलु। अतः पित्रा पृथग्गेहे स्थापिता सा वरार्थिनी ॥१२४॥

अर्थ—इधर-उस नगर में ताम्रचूड नाम का राजा था, उसकी लडकी रत्नावलीने समय पर युवावस्था को धारण की। परन्तु जैसा तैसा वर उसको रुचता नहीं था, इसलिये पिताने वरकी इच्छा से उसको अलग मकान में रहने के लिये भेज दी थी। अर्थात् वह एकान्त रहती थी ॥ १२३ ॥ १२४ ॥

तया तत्रस्थया दृष्ट आहूतोऽहं च भूपते!। स्वयम्वरे समेतव्यं निश्चयेन त्वयाध्वग! ॥ १२५ ॥
विससर्ज तथेत्युक्त्वा मां स्वयम्वरमण्डपम्। अरीरचत् पिता तस्या स्तदादेशेन सद्दिने ॥ १२६ ॥

अर्थ—वहां रहती हुई उसने मुझे बुलाकर कहा कि हे पथिक ! तुम भी स्वयंवर मंडप में जरूर ही आना, ऐसा कह कर मुझे लौटा दिया। फिर उसके आदेश से उसके पिताश्रीनें शुभ दिन देखकर स्वयम्वरमंडप की सुन्दर रचना कर दी ॥

आमन्त्रिताः सुता राज्ञस्तत्रेयुः स्पर्द्धया समम्। कौतुकार्थी गतस्तत्राहमपि क्षितिवल्लभ ! ॥१२७॥

चिक्षेप च तया माला मत्कण्ठे सर्वसाक्षिकम् । उपयेमे मया सा तु तस्थौ तत्र च वत्सरम् ॥१२८॥

अर्थ—आमन्त्रण पाये हुए राजाओ के लडके ईर्ष्या के साथ वहां आ पहुंचे। तमासा देखने की इच्छा से मैं भी गया. फिर हे राजेन्द्र ! सब के समक्ष में रत्नावलीने मेरे गले मे वर माला पहना दी। उसके बाद एक वर्ष तक हम दोनो एक साथ ही वहां पर ठहर गये ॥ १२७ ॥ १२८ ॥

अस्य सार्थे पुनः पोताधिरूढोऽहं प्रतस्थिवान् । प्रियायुतो धनेनालङ्कृतः सहायवर्जितः ॥१२९॥
वारद्वयानुभूतं तद् दुर्वृत्तमहमस्य तु । विदन्नपि हि विश्वस्तः शौनिकस्येव बर्करः ॥ १३० ॥

अर्थ—पत्नी से युक्त धन से अलंकृत और सहाय रहित भी मैं जहाज पर बैठकर इसके साथ रवाना हो गया। दो वार अनुभव करने पर भी चण्डाल की तरह इस दुष्टका मैंने विश्वास वैसे कर लिया जैसे कि वर्कर शौनिक का करता है ॥

अमुना मद्वधूरूपमोहितेन धनार्थिना। अत्यगाधाम्बुधौ क्षिप्तश्चाहं निष्कारणारिणा ॥१३१॥
पृथुरोम्णा तदा यानाद् गलितो निपतन्नहम् । मीनोऽम्भोनिधिकल्लोल प्रेरितोऽवाप तत्तटम् ॥१३२॥
दृष्टः स धीवरैस्तत्र मुदितश्च विदारितः। तत्कुक्षे निर्गतोऽहं तु बम्भ्रमन्नाप वाटिकाम् ॥१३३॥

अर्थ—मेरी स्त्री के रूप से मोहित इस लोभीने निष्कारण ही शत्रु बनकर मुझे समुद्र के बीच में गिरा दिया। उसके बाद जहाज से पडनेपर मुझे एक मच्छलीने अपने गले के अन्दर उतार दिया। समुद्र की तरंग वश वह मीन उस किनारे पर जा पहुंची. फिर उसे मच्छुआने देखी और खुश होकर के उसे फाड दी. तब उसके पेट में से मैं बहार निकल गया।

और घूमता हुआ इस बगीचे में आ पहुंचा ॥ १३१ ॥ १३२ ॥ १३३ ॥

अग्रेतनं स्वरूपं तु स्वयं वेत्सि सहोदर ! । मयास्य चरितं सम्यगनुभूतं तवोदितम् ॥ १३४ ॥

अर्थ—इसके बाद जो जो वृतान्त हुआ है वह आप स्वयं जानते ही है। हे भाई ! इसका चरित्र जो मैंने सुनाया है वह अच्छी तरह अनुभव किया हुआ है ॥ १३४ ॥

ततः सोष्णं विनिश्वस्य मुक्त्वाश्रुनिचयं नृपः । अवादीत्त्वयावत्स ! सेहे कष्टानि भूरिशः ॥१३५॥

मया प्रबलसाम्राज्यं बुभुजेऽत्र स्थितेन हा !। विश्वस्तेनास्य भवता दुःखं तु मरणान्तिकम् ॥१३६॥

अद्यसुकृतिनं मन्ये चात्मानं वसुधान्तरे। कुशलेनागतो यत्त्वं मिलितोऽसि पुनर्मम ॥ १३७ ॥

अर्थ—इसके बाद गरम श्वासा लेकर और आंसू छोडता हुआ कहने लगा कि हे वत्स ! तुमने अनेक कष्टों को सहन किया। और मैंने प्रबल साम्राज्य का भोग किया। हा ! हा ! इसके विश्वास से तुमने मरणान्तिक दुःख पाया. आज भूतल में मैं अपने को पुण्ययाली समझता हूं कि कुशल पूर्वक तुम आगया। और मुझे मिल गया ॥१३५॥१३६॥१३७॥

इत्युद्गिरन् मुहुर्भूपः कोपपाटललोचनः। आदिदेश तलारक्षमिति सक्रोधयागिरा ॥ १३८ ॥

अरे भृत्य ! त्वया सद्यो मारणीय कुटुम्बयुक्। सोमदत्तो वणिक् नीच आततायी गजोपमः ॥१३९॥

अर्थ—इस तरह वारवार कहते हुए राजा की आंखें क्रोधसे लाल होजाने पर क्रोध से भरी हुइ वाणी में नगर रक्षक को बुलाकर के राजाने कहा कि हे भृत्य ! इस आततायी हाथी के समान नीच बनिया सोमदत्त को सारे कुटुम्ब के साथ

जल्दी मार डालो ॥ १३८ ॥ १३९ ॥

आकर्णयापरं कृत्यमेतद् गेहापणस्थितिम् । यानपात्रस्थितं यत्स्यात् सर्वमानय तद्धनम् ॥१४०॥
अत्र तत्सर्वमानेयं यन्मत्सौधोचितं भवेत् । अन्यच्च येन केनापि ग्राह्यं निजनिजेच्छया ॥१४१॥

अर्थ—दूसरी बात भी सुन लो. इसके घर दुकान और जहाज में जहा भी इनका धन रहा हुआ हो सब ले आओ। उस मे राजभवन के उचित यहां ले आओ. और दूसरा अपनी अपनी इच्छा के अनुसार सब लोग ले लेना ॥१४०॥१४१॥

यावदादेशमासाद्य व्रजेन्नगररक्षकः । तावत्त शिरसा नत्वा वत्सराजो व्यजिज्ञपत् ॥१४२॥
नरेश ! जनताधार ! मामुं मारय पापिनम् । वधार्होऽयं परं रक्ष मद्गिरा करुणानिधे ! ॥१४३॥

अर्थ—राजाकी आज्ञा लेकर नगर रक्षक जाने लगा. इतने में शिर झुकाकर प्रणाम करके वत्सराजने राजा को कहा कि हे नरदेव ! हे जनताधार ! इस पापी को मत मारिये। हे कृपासागर ! यद्यपि मारने के योग्य ही है फिर भी मेरी बात मानकर इसे बचा दीजिये ॥ १४२ ॥ १४३ ॥

विपणिस्थं गृहान्तस्थं भूमिस्थं पोतसंस्थितम् । स्वदेशपरदेशस्थं परपाणिगृहस्थितम् ॥१४४॥
अन्यत्र यत्र कुत्रापि धनमस्य भवेदिह । नीत्वा तदखिलं देशान्निष्कास्योऽयं नराधमः ॥१४५॥

अर्थ—इस पापी की दुकान मे, घर मे भूमि में, जहाज में, स्वदेश तथा परदेश में एव पराये घर में रहा हुआ इसका तमाम धन लेकर के इस नराधम को देश निकाला दे दिया जाय ॥ १४४ ॥ १४५ ॥

अन्यथा वत्स ! वाक्यं ते मयाकर्तुं न शक्यते । नृपेणोक्तं पुनः स्वीयबन्धवे वचनं ह्यदः ॥१४६॥
वत्स ! यद्रोचते तुभ्यं कुरु तन्मा विचारय । अयं तव रिपुर्दत्तस्त्वत्करे ह्यधुना मया ॥१४७॥

अर्थ—वत्सराज की बातें सुनकर राजाने कहा कि हे वत्स ! तेरे वाक्यों को मैं उलंघन नहीं कर सकता । जो तुम को रूचता हो वह करो । विचार मत करो. हे वत्स ! इस शत्रु को तेरे हाथ में ही सोंप दिया है ॥ १४६ ॥ १४७ ॥

एनं कारागृहे क्षिप्त्वा सकुटुम्बं सनन्दनम् । ताडयित्वा च विविध यातनाभिर्भृशं बलात् ॥१४८॥
वेष्टयित्वा पादकण्ठं लोहश्रृंखलया दृढम् । अत्रैव नारकं दुःखं दर्शयित्वातिदुःसहम् ॥१४९॥
एतदीयं धनं सर्वं बाह्यमाभ्यन्तरं क्षणात् । अन्यच्च यानपात्रस्थं वस्त्वादत्स्वापि वेगतः ॥१५०॥
पापिनानेन कुत्रापि प्रच्छन्नां स्थापितामथ । गेहमध्यस्थितां जायां निजामानीय वेश्म च ॥१५१॥
पश्चाद्विमृश्य यद्युक्तं विधेयं च त्वया ननु । वध्य एव कृतघ्नोऽयं निष्कास्यो देशतोऽथवा ॥१५२॥
नवरं तावता रक्ष्यो भवताऽयं तु यावता । तव स्याद्दयितावासिरित्युक्त्वा विरराम सः ॥१५३॥

अर्थ—बाल बच्चा आदि कुटुम्बों के साथ इसको लोह की जंजीर से पांव से लेकर शिर तक अच्छी तरह बांध कर खुब पीटकर, और अनेक पीडाओं से दुःसह नरक सम्बन्धी दुःखोंको यहीं दिखलाकर जेलखाने में रखदो । और जल्दी ही बाहर भीतर आदि स्थानों पर रहे हुए धन को लेलो । इस पापी द्वारा घर के अन्दर छिपाई हुई तेरी पत्नी को अपने घर ले आओ । पीछे विचार करके जैसा भी ठीक लगे वैसा करदो. चाहें तो इस कृतघ्न को मार दो. चाहे तो निकाला दे

दो! परन्तु तब तक इसकी रक्षा करना उचित है जब तक कि तेरी पत्नी मिल जाय। ऐसा कह कर राजा चुप हो गया ॥

ओमित्युक्त्वा नृपभ्राता श्रेष्ठी परिकरान्वितः। क्षिप्तः कारागृहे चायःशृंखलाभिस्तु वेष्ठितः ॥१५४॥
तद्धनं सर्वमानीत यदासीद् यत्र कुत्रचित्। परं नासादिताऽऽलोक्यमानापि दयिता निजा ॥१५५॥
तदा निगडितं तं चापृच्छन्नृप सहोदरः। ब्रुहि रे! दृश्यते कि न मत्पत्नी तव सद्मनि ॥१५६॥

अर्थ—राजा के आदेशानुसार वत्सराजने लोहे की जंजीर से परिवार सहित सोमदत्त को बांध करके जेल में भेज दिया। और जहां जो कुछ धन जेवर आदि था वह तमाम मंगवा लिया। लेकिन बहुत ढूंढनेपर भी अपनी पत्नी को नही पाकर बांधे हुए उस नीच सोमदत्त को पूछा कि अरे दुष्ट! बोल! मेरी पत्नी तेरे घर में क्यो नहीं दिखाई देती है ॥१५६॥

सोऽवोचन्मद्गृहे नास्ति रत्नावली तव प्रिया। त्वत्सोदरगृहे साध्वी विद्यते मेऽन्यथा न वाक् ॥१५७॥
रे! त्वया प्रेषिता तत्र कथं सा सोऽपि कारणम्। पाश्चात्यं सकलं चोक्त्वा विरतो नम्रकंधरः ॥१५८॥

अर्थ—उतर में सोमदत्त ने कहा कि आपकी पत्नी सती रत्नावली मेरे घर पर नही है आप ही के भाई के घर में है। यह मेरा वाक्य झूठा नहीं समझें। इतनी बात सुनकर वत्सराजने कहा कि अरे! तुमने वहा क्यों भेजी? इस के उतर में पहले की सब कहानी कह कर सोमदत्त कंधे को नमाकर चुप हो गया ॥ १५७ ॥ १५८ ॥

अथ गत्वा लघु भ्राता विज्ञप्तं स्वाग्रजाय तत्। तेनाप्याहूय साऽदर्शि तस्मै जवनिकान्तरे ॥१५९॥

अर्थ—इस के बाद वत्सराजने बडे भाई को सब बातें कह सुनाई। फिर बडे भाईने रत्नावली को पडदे में बुलाकर

के वत्सराज को दिखादी ॥ १५९ ॥

अन्योन्यं सङ्गमोजात स्तस्मिन्नवसरे तयोः । विरहानलसन्तप्तं तच्चित्तं शैत्यमाश्रयत् ॥१६०॥
तच्च किञ्चित्सुखं जातं पश्यतोरनयोर्मिथः । यत्कवेर्वचनातीतं यत्स्वप्नस्याप्यगोचरम् ॥१६१॥

अर्थ—उस अवसर में दोनों के परस्पर मिलन से विरह रूपी अग्नि से तपे हुए चित को बडा आनंद अनुभव हुआ। उस समय परस्पर एक दूसरे को देखने से जो सुख उत्पन्न हुआ, वह कवियों के वचन से बाहर है और स्वप्न के विषय से भी बहिर्भूत है। अर्थात् उस आनंद का वर्णन करने में कवि भी समर्थ नहीं है। अवर्णनीय है ॥ १६० ॥ १६१ ॥

ताभ्यां च प्राक्तनं वृत्तं मिथः प्रोक्तं निजं निजं । दुःखम्प्रादुर्भवत्येव जाते स्वजनसङ्गमे ॥१६२॥
चिरात्सकान्तसंयोगसुखं च बुभुजे तया । स्वसौधस्थितया पुण्यात्सुलभं हि मनीषितम् ॥१६३॥

अर्थ—बहुत दिनों पर स्वजन संगम होने से दुःखों का उत्थान होना स्वाभाविक ही है, क्योंकि अपनी अपनी कहानी परस्पर कहने से दोनों को बहुत दुःख होता ही है। फिर बहुत दिनों से पति का संयोग पाकर रत्नावली राजभवन में खूब आनंद करने लगी। क्योंकि पुण्य से मनोऽभिलषित सुख सुलभ और स्वाभाविक हुआ करता है ॥१६२॥१६३॥

इतश्च वत्सराजेनान्यदा पृष्टं नृपान्तिके । सोदराख्याहि स्वं वृत्तं प्राक्तनं मत्पुराधुना ॥१६४॥
महत्कौतुकमस्त्येव तद्वृत्तश्रवणे मम । यदानीतं मया तोयमचिरात्त्वत्कृते विभो ! ॥१६५॥
दृष्टोऽहिना मया तावन्मृतिं प्राप्तस्त्वमीक्षितः । क्षणं मया विमृश्याथ कृत्वा स्वीयं दृढं मनः ॥१६६॥

निबध्य वटशाखायां त्वत्कलेवरमञ्जसा । अम्बावत्यां गतः पुर्यां मद्दमिन्धनहेतवे ॥१६७॥
यावत्तत्रागतोभूय स्तावन्नादर्शितच्छवम् । अग्रेतनं भयदृवृत्तं नेवं जानामि सर्वथा ॥१६८॥
अतः कृत्वा प्रसादं मे ब्रूहितत्स्वकथानकम् । हंसराजोऽप्यभाषिष्ट शृणु बन्धो ! निवेदये ॥१६९॥

अर्थ—इधर एकदा राजा के पास वत्सराजने निवेदन किया कि हे भाइ ! अभी पहले अपना समाचार सुनाईये । क्योंकि वे समाचार मुझे आश्चर्यजनक मालूम होते है । हे प्रभो ! आपके लिये जब मै पानी लेकर आया, तब मैंने देखा तो आप सर्प के काटने से मृत्यु को पागये, क्षणभर विचार करने के बाद अपने मन को मजबूत करके आप के शरीर को वटवृक्ष की शाखा पर बांध कर के जल्दी लकडी लाने के लिये अम्बावती नगरी में गया, चिता के उचित लकडी लेकर के वापिस आकर के देखता हूं तो शव मुझे नही मिला । इस के बाद क्या घटना हुई? उसे मैं बिल्कूल नहीं जानता हूं । अतः कृपया अपनी कहानी कह सुनाईये । इसके बाद हंसराजने कहा कि हे बन्धो ! सुनो ! मैं सुनाता हूं ॥१६४॥१६९॥

तस्यां पुरि गतो यावद् भवानिन्धनहेतवे । तावता खेचरद्वन्द्वं समेतं तत्तरोस्तले ॥१७०॥
तेनाहं मंत्रयोगेन त्वरीत निर्विषीकृतः । कथितं याहि पुत्रत्वं अम्बावतीं पुरीं क्षणात् ॥१७१॥
गतस्य तत्र ते भावि सुखं राज्यादिसम्भवम् । अहं तदूवचनात्प्रीत स्तत्पुरीनिकटे गतः ॥१७२॥

अर्थ—लकडी लाने के लिये उस नगरी में जब तुम चले गये, इतने में उस वृक्ष के नीचे दो खेचर देव आगये. उन्होंने मन्त्र के प्रयोग से मुझे विष रहित कर दिया । और कहा कि हे पुत्र ! तुम अभी अम्बावती पुरी में जाओ वहां

तुझे राज्य सुख मिलनेवाला है। उनके वचन के अनुसार प्रसन्न होकर मैं उस नगरी में जा पहुंचा ॥१७०॥१७१॥१७२॥

सुष्वाय तत्पुरासन्न वाटिकायां हि यावता। अपुत्रस्तत्पुरस्वामी दष्टः सर्पेण तावता ॥१७३॥
विमृश्य मंत्रिभिः सर्वैश्छत्रादिदिव्यपञ्चकम्। मंत्राभिमंत्रितं कृत्वा मुमुचे गोत्रजा गिरा ॥१७४॥

अर्थ—उस नगरी के पास रहे हुए बगीचे में जाकर के मैं सोगया. इतने में तो उस नगरी का राजा सर्प के काटने से मर गया. मंत्रियोंने विचार करके एवं गोत्र देवी की वाणी से पंच दिव्य प्रकट किये ॥ २७३॥ १७४ ॥

तद्दिव्यपञ्चकं मन्त्रपुतं पर्य्यभ्रमीत्पुरे। तत्रोद्याने समायातं यत्राहं शयितोऽभवत् ॥१७५॥
इभेन गर्जितं तत्रावर्ता हेषारवः कृतः। छत्रेण विस्तृतं तत्र चामराभ्यां तु वीजितम् ॥१७६॥
कुंभिकुम्भस्थितात्कुम्भान्मंत्रपूताम्बुपूरितात्। अजायताभिषेको मच्छीर्षोपरि सहोदर! ॥१७७॥
सचिवाधीश्वरैः सर्वैर्गजारूढो वनान्तरात्। नृपसौधमहं नीतः पुरान्तः सार्धमुत्सवैः ॥१७८॥

अर्थ—वे छत्र चामरादि युक्त पंच दिव्य घूमते हुए उस बगीचे में आये जहांकि मैं सोता हुआ था। वहां हाथी गर्जने लगा। घोडे हेषारव शब्द बोलने लगे। और छाता खुल गया. चामर वींजने लगे. और पवित्र जल से भरा हुआ एवं हाथी की सूढ में रहा हुआ घडा हाथीने मेरे ऊपर अभिषेक कर दिया। तदनन्तर मंत्री और प्रजाओं ने मिल करके बडे उत्सव के साथ हाथी पर बैठा करके मुझे वन से नगर के मुख्य बजारों में होकर के राजभवन में ले गये। और वहां लेजाकर राज्य के सिंहासन ऊपर बैठा दिया ॥ २७५ ॥ १७६ ॥ १७७ ॥ १७८ ॥

आविर्बभूव वादित्रध्वनिरुच्चैः पुरान्तरे। प्रससार मदीयाज्ञा तस्मिञ्जनपदेऽखिले ॥१७९॥
मया प्रत्यर्थिराजानः कृताः करप्रदायिनः। निष्कण्टकं मया राज्यं चक्रे खड्गबलेन च ॥१८०॥

अर्थ—फिर नगर में खुब बाजा वजाना शुरू हो गया. और उस देश में मेरी आज्ञा फैलादी गई। फिर मैने शत्रुभूत राजाओं को कर देनेवाला बनाकर तलवार के बल से कण्टक रहित राज्य का उपभोग किया ॥ १७९ ॥ १८० ॥

मद्भुजोपार्जितं राज्यमप्यासीन्मेऽरतिप्रदम्। परं त्वयागते चाद्य जातं सुखनिकेतनम् ॥१८१॥
अद्य सुकृतिनामाद्यो जातश्चाद्य सुखास्पदम्। मन्ये मज्जीवितं श्लाघ्यं किन्न्यूनं मे धरातले ॥१८२॥
परमद्यापि चिन्तैका महती हृदि वर्तते। जानामि सत्वरं यामि पितृपादाब्जभृङ्गताम् ॥१८३॥
तावताऽत्र त्वया स्थेयं राज्यं भोक्तव्यमुत्तमम्। बन्धो! भवत्प्रसादेन स्थास्ये तत्र निजेच्छया ॥१८४॥

अर्थ—मेरी भुजाओं से उपार्जित राज्य भी इतने दिन दुःख देनेवाला था. लेकिन आज तेरे आने से सुखोंका घर हुआ. आज मेरा नाम पुण्यशालों मे पहला हुआ. और परम सुख हुआ। और मेरा जीवन परम प्रशंसनीय हुआ. और पृथ्वीपर किसी चीज की मुझे न्युनता नही है फिर भी आज मेरे हृदय में एक महाचिन्ता है. वह मैं ही जानता हूं। वह यह है कि अब मैं पिताजी के चरण कमलों का भौंरा बनूंगा। हे बन्धो! तब तक तुम यहां रहो. और इस उत्तम राज्य का उपभोग करो। तेरी प्रसन्नता से मैं इच्छानुसार पिताजी की सेवा में रहुंगा ॥ १८१ ॥ १८२ ॥ १८३ ॥ १८४ ॥

इत्युक्ते वत्सराजोऽपि निजगाद गिरं नृप!। कुलोचितं ते वचनं मास्मिन्कार्ये विलम्बय ॥१८५॥

परमेष्यामि भूपाल ! त्वत्सार्थेऽहं च सर्वथा। स एव दिवसो धन्यो यस्मिन् तातपदानतिः ॥१८६॥

अर्थ—इस प्रकार वचन सुनकर वत्सराजने भाई से कहा. हे भूपाल ! आपका वचन कुल के उचित ही है. इस कार्य में विलम्ब मत कीजिये। किन्तु हे नृप ! आप के साथ मैं भी चलूंगा। वही दिन धन्य है कि जिस दिन पिताश्री के चरणों में नमस्कार हो ॥ १८५ ॥ १८६ ॥

ताभ्यामन्योन्यमालोच्याहूय सेनापतिं मुदा। निवेदितं प्रयाणाय सज्जीकुरु निजां चमूम् ॥१८७॥

अर्थ—दोनों भाई परस्पर आलाप संलाप पूर्वक निर्णय करके सेनापति को बुलाकर के हर्ष के साथ कहा कि जाने के लिये अपनी सेना को तैयार करो ॥ १८७ ॥

नृपादेशेन सेनानीस्ततो वाद्यमवादयत्। सज्जीभूतासु सेनासु प्रयाणसमयोचितम् ॥१८८॥

नृपोऽनुजान्वितः सद्यः प्रतस्थे स्थापयन्पथि। उत्थापयन् धराधीशान् कियतोऽपि मदोत्कटान् ॥१८९॥

क्रमादासादितं ताभ्यां पुरं शंखपुराभिधम्। तस्थतुः पुरसीमायां तौ तु प्रमुदिताशयौ ॥१९०॥

अर्थ—राजाका आदेश पाते ही सेनापति ने सेना तैयार करदी और मांगलिक बाजा बजवाना शुरु कर दिया. और यात्रा के उचित मार्ग के लिये तमाम सामान भी साथ ले लिया। सेना आदि सब तैयार हो जाने पर छोटे भाई के साथ राजा हंसराज ने प्रयाण कर दिया। मार्ग में आये हुए मदों से प्रबल कितने ही राजाओं को उठाते हुए दोनों भाई शंखपुर नामक नगर के पास क्रमसर चलते हुए पहुंच गये और प्रसन्न चित से नगर के बहार ही ठहर गये ॥ १८८ ॥

तत्पुरं वेष्टयामास चक्षुभे सकलोजनः। अरिमर्दनभूपोऽपि चिन्तयन्निति मानसे ॥१९१॥
कोऽयं कुतः समायातो भूपतिः पृतनावृतः। अकस्मादेव कल्पान्तपयोराशिभयंकरः ॥१९२॥

अर्थ—उस नगर को चारों तरफ से घेर लेने पर प्रत्येक व्यक्ति क्षुब्ध होगये साथ ही साथ अरिमर्दन नामक राजा भी चिन्ता करने लगा कि अहो! अचानक प्रलय काल के समय की तरह भयंकर जल प्रवाह रूप सेना सहित यह राजा कहां से आया और कौन है? ॥ १९१ ॥ १९२ ॥

तदा शंखपुरेशेन पृष्ट स्वसचिवान्तिके। मंत्रिन्! किमद्य कर्त्तव्यं दूरे मम जयोऽधुना ॥१९३॥
अरातिः सबलो नूनं समेतो वाहिनीयुतः। आहूयानीत एवायं केनापीति निवेद्य हि ॥१९४॥
वृद्धः शङ्खपुराधीशः सतनूजवियोगतः। उपतापनिभं राज्यं भुनक्ति विषयोज्झितः ॥१९५॥

अर्थ—उस के बाद शंखपुर के राजा मंत्रि के पास कहने लगा कि हे मंत्रिन्! अब क्या करना चाहिये? मेरी जय तो दूर है क्योंकि शंखपुर का राजा वृद्ध है और सुपुत्रों के वियोग से विषयों को छोडकर उपताप के समान राज्य का उपभोग करते है ऐसा किसीने कहकर इसे बुलाकर के लाया है और यह राजा भी सब सेना को साथ लेकर यहां आ पहुचा है ॥ १९३ ॥ १९४ ॥ १९५ ॥

इत्यादि शृण्वताऽनेन राज्यं चिन्तयता निजम्। समेतं हेलयैवाद्य कर्त्तव्यमथ किं मया ॥१९६॥
विना खड्गबलं मन्त्रिन्नयं नाद्य निवर्तते। तन्नास्त्यतः करं दत्वा शीघ्रमस्य निवर्त्तय ॥१९७॥

एवं कृते तु चेद्याति रिपुः साक्षाद्यमोपमः। तदा जितं मयाऽमात्य! न स्यान्मे वचनीयता ॥१९८॥
चेदेवं स्यान्नमे तर्हि राज्येनालं मयाशयात्। पुरापि तत्त्यजे साधो! तस्याशा तद्दिनावधिः ॥१९९॥

अर्थ—इस प्रकार सुनता हुआ और अपने राज्य की चिन्ता करता हुआ अपमान के साथ मैं आया हूं. अब मुझे क्या करना चाहिये? हे मंत्रिन्! खड्गबल के विना यह नही हटेगा. और अपने पास वह बल नहीं है। इसलिये इसे कर देकर शीघ्र हटाईये। ऐसा करने से साक्षात् यमराज के समान बलिष्ठ यह शत्रु स्वयं चला जायगा. हे मंत्रिराज! इसी में मेरी जीत है। और इस में न्यूनता नहीं होगी। ऐसा नहीं किया तो यह राज्य बेकार है। क्योंकि मैंने तो पहले उस दीन से ही राज्य की आशा छोड रखो है ॥ १९६ ॥ १९७ ॥ १९८ ॥ १९९ ॥

यस्मिन्दिने मया सूनुयुगं दूरीकृतं गृहात्। कुलक्रमागतं राज्यं मया निर्गमितं तदा ॥२००॥
मद्गेहेऽद्य यदि स्यात्तां पुत्रौ तौ विदितौ क्षितौ। मद्देशसीमां शक्नोति किमागन्तुं पुरन्दरः ॥२०१॥
अविमृश्यकृतामाद्यो निरक्षरधुरिः स्थितः। किं ब्रूवेऽहं त्रपाकारिवचः श्रवणदुर्भगम् ॥२०२॥
यत्कृतं यत्पुराजातं तत्तथा नान्यथाभवेत्। भवान्कालोचितं कुर्वन्निश्चिन्तीकुरु मां मनाक् ॥२०३॥

अर्थ—जिस दिन मैंनें दोनों लडकों को घर से दूर किया उसी दिन कुल क्रम से आये हुए राज्य को गमादिया। भूमंडल में विख्यात प्रभावशाली मेरे पुत्र यदि आज मेरे घर में होते तो क्या मेरे देशकी सीमा में इन्द्र भी आसकता? कभी नहीं। किन्तु अविचारियों में पहला, और मूर्खों का शिरोमणि मैं ठहरा। क्यों कि लज्जाकारी श्रवण के अप्रिय

वचन अब मैं क्या बोलूं ? जो मैंने किया और जो कुछ हुआ वह अब उल्टा नहीं हो सकता । लेकिन अब समयोचित कार्य करके मुझे क्षणभर चिन्ता रहित कीजिये ॥ २०० ॥ २०१ ॥ २०२ ॥ २०३ ॥

नृपोक्त वचन श्रुत्वाऽमात्योऽवोचन्नरेश्वर ?। अधुनैव करिष्यामि तत्र गत्वा त्वदीप्सितम् ॥२०४॥
इत्युक्त्वा सचिवः सद्यस्तत्रागान्मिलितस्तयोः । आश्लेषितस्तदुद्दिश्य ताभ्याममात्यपुङ्गवः ॥२०५॥
जाते परस्परालापे ताभ्यामानन्दपूर्वकम् । कुशलं तातपादानां पृष्टं मन्त्रिवरान्तिके ॥२०६॥

अर्थ—राजा के वचन सुनकर मंत्रीने कहाकि हे नरेश्वर ! अभी वहां जाकर के आपकी इच्छा के अनुकूल कार्य करुंगा ॥ एसा कह कर के मंत्री शीघ्र वहां जाकर के दोनो से प्रेमपूर्वक मिले और उन्हें पहिचान करके खुब आलिङ्गन दिये । फिर आनन्द पूर्वक परस्पर वार्तालाप करने पर राजकुमारोंने पिताश्री के कुशलक्षेम की बात मंत्रि से पूछी ॥२०६॥

मंत्रिणाऽभाणि ते तातपादानामशुभं कुतः। कुलोद्योतकृतोर्नित्यं युवयोः सुतयोः सतोः २०७॥

अर्थ—मंत्रिने कहा कि कुल का उजाला करने वाले तुम दोनों सुपुत्रो के रहते हुए पिताश्री को अशुभ क्यों हो ?॥

ताभ्यामावेदितं तस्मै मन्त्रिन्नतिकृतागसौ । आवां स्वो यद्यपि प्रायस्तातोऽस्त्येवातिवत्सलः॥२०८॥
तथा कुरु तथा ब्रूहि पितृपादाम्बुजाग्रतः । अस्मत्कृतापराद्धानि तातो विस्मारयेद्यथा ॥२०९॥

अर्थ—दोनों राजकुमारोंने मंत्रि से कहा कि हे मंत्रिराज ! हम दोनों यद्यपि पिताजी के अपराधी है. और पिताजी प्रायः दयालु ही हैं. इसलिये पिताश्री के पास वैसा कीजिये और वैसा बोलिये कि जैसे हमारे अपराध को भूल जाय ॥

इत्युक्त्वाऽन्यग्मुखीभूयकुमारौ तस्थतुस्तदा । अथ मंत्रिवरः प्रोचे श्रूयताम्मे वचोऽनघम् ॥२१०॥
वत्सौ ! सा जननी धन्या यत्कुक्षिप्रभवौ युवाम् । न श्रुतो वा मयाऽदर्शि विनयस्त्वीदृशः क्वचित् ॥२११॥

अर्थ—इतना कहने के बाद दोनों कुमार मौन लेकर बैठ गये। फिर मंत्रीने कहा कि मेरा निष्पाप वचन सुनिये। वो माता धन्य है कि जिसकी कुक्षि से आप दोनों लडके उत्पन्न हुए है। तुम्हारे जैसा विनय न तो मैने कभी सुना और न कभी देखा ॥ २१० ॥ २११ ॥

यद्यपि मे विलम्बस्यावसरो न हि साम्प्रतम् । तथापि प्राक्तनं वृत्तं मन्मुखाच्छृणुतं द्रुतम् ॥२१२॥

अर्थ—यद्यपि अभी विलम्ब करने का समय नहीं है. फिर भी मेरे मुख से पहले की वात जल्दीं सुन लीजिये ॥२१२॥

आरभ्य तद्दिनाद्राज्ञा विज्ञातं चेटिकामुखात् । कुचरित्रं वचोऽनीतं धारणीकृतमात्मना ॥२१३॥
तद्दिनादद्य यावत्स कुर्वन्ननुशयं हृदि । चिन्तयन्मरणोपायं रात्रिन्दिवमनेकधा ॥२१४॥
राज्यं विहाय किं कुर्वे कुत्र तिष्ठामि यामि वा । साधयामि मृतिं केनोपायेन वनमाश्रये ॥२१५॥
इत्यादि विविधां चिन्तां तन्वन् भवद्वियोगतः। जीवन्मृत इव स्वामी निशान्त एव तिष्ठति ॥२१६॥

अर्थ—धारणी से किया हुआ कार्य व बीता हुआ वचन को दासी के मुख से जब राजाने सुना है तब से ही आज दिन तक हृदय में पश्चात्ताप करता हुआ रात दिन अनेक प्रकार से मरने का उपाय सोच रहा है. और राज्य छोड करके क्या करुं ? किधर जाउं ? कहां रहुं ? इत्यादि अनेक प्रकार से संकल्प विकल्प करता हुआ किसी प्रकार आज दिन तक

जीवित है और अन्तःपुर में ही रहते है ॥ २१३ ॥ २१४ ॥ २१५ ॥ २१६ ॥

एवं भवज्जनयिता युवयोर्मिलनाशया। विषयाद्विरतः कालं कियन्तं नयति स्म हा !'॥२१७॥

अथाकस्मात्समायात रिपुचक्रं निरीक्ष्य च। भूमिधवो भृशं भीतः प्रेषितस्तेन चागतः ॥२१८॥

अर्थ—इस तरह आपके पिताने आप दोनों से मिलने की आशा से विषय से विरक्त होकर कितना ही काल बिताया है। अहा! आज अचानक आया हुआ शत्रुवर्ग को देखकर भयभीत होते हुए राजासे भेजा गया मैं आपके पास आय हूं॥

अद्य मच्चक्षुषी पूते कृतार्थं जीवितं मम। यज्जीवता मया दृग्भ्यां सुतौ दृष्टौ स्वलालितौ ॥२१९॥

कथनीयमथोवच्मि स्वसङ्गमामृतेन च। भवद्वियोगसन्तप्तं तातदेहं प्रशाम्यताम् ॥२२०॥

भवद्भ्यां तु समेतस्य तातस्य सम्मुखं नतिः। कार्य्या कुलप्रसूतानां नराणां स्थितिरीदृशी ॥२२१॥

अर्थ—आज मेरी आंखे पवित्र हुई जीवन मेरा कृतार्थ हुआ, क्योंकि जीवते हुए मैंने लाडले दोनों पुत्रों को अपनी आंखों से देख लिया। अब कहने की बातें कह सुनाता हूं कि आप दोनों के वियोग से पीडित पिताश्री के शरीर को संगमरुपी अमृत से आप शान्त करो। और कुल में उत्पन्न हुए मनुष्यों की रीति के अनुसार ही आप दोनो सन्मुख आ करके पिताश्रीजी के चरण कमलो में नमस्कार करो ॥ २१९ ॥ २२० ॥ २२१ ॥

ओमित्युक्तं कुमाराभ्यां गतोऽमात्यो नृपान्तिकम्। भूपः प्रमोदितस्तेन सुतागमनवार्तया ॥२२२॥

भूपयित्वाऽपणश्रेणिं नगरस्याखिलस्य च। विविधातोद्यसन्नादपूरपूरितदिङ्मुखः ॥१२३॥

उत्तुङ्गतुरगारूढच्छत्रत्रयविराजितः । जगाम सम्मुखो भूपोऽखिलबन्धुजनैर्वृतः ॥२२४॥

अर्थ—मंत्री के वचन के अनुसार कुमारों के स्वीकार करने पर मंत्री राजा के पास गया. फिर मंत्री के मुख से लडकों के आगमन सूचक समाचार सुनते ही संतुष्ट होकर राजा नगर की प्रत्येक दुकानों की कतार को सजाकर और अनेक आतोद्य नामक बाजा की ध्वनि से दिशा मंडल को भरपूर करते हुए सर्वोच्च घोडेपर तीन छत्र युक्त सवार होकर के नागरिक तमाम जनता एवं आत्मीय बन्धुओं से वेष्टित होकर कुमारके सम्मुख गये ॥ १२२ ॥ १२३ ॥ १२४ ॥

नतः प्रदेशाच्चलितौ कुमारौ पादचारिणौ । ताताङ्घ्रिनलिनोपास्ति कृते मंत्रीवराज्ञया ॥२२५॥

अर्थ—इधर मंत्री के आदेशानुसार पिताश्री के चरण कमलों की सेवा निमित्त दोनों राजकुमार उस प्रदेश से पांव पैदल ही चल पडे ॥ २२५ ॥

अथागत्य कुमारौ तौ पादयोः पतितो पितुः । उत्थाप्यालिङ्गितं स्नेहात् पित्रा स्वसुतयोर्युगम् ॥२२६॥

तनयावङ्कमारोप्य कुशलप्रश्नपूर्वकम् । मुञ्चताश्रुततिं राज्ञा समाघ्रातं तयोः शिरः ॥२२७॥

अर्थ—दोनो कुमार पिताजी के पास आकर पांवमें पड गये. फिर पिताजीने अपने दोनों लडकों को स्नेह से उठाकर खुब आलिङ्गन किया. और कुशल-क्षेम पूछने के बाद दोनों को गोद में बैठाकर आंखों से आंसु बहाते हुए दोनों के शिर कोभी सुंघा ॥ २२६ ॥ २२७ ॥

सगद्गदं नृपोऽवादीत्किं वच्मि कुलदीपकौ !। वचः पापप्रदं श्रोतुं कथकस्य त्रपाकरम् ॥२२८॥

अविचार्य मया कर्म चक्रे यत्सहसा तदा। तन्मदीयं मनोवेद नान्यो वेत्ति कदाचन ॥२२९॥

अर्थ—राजा गद्गद होकर कहने लगा कि हे कुलदीपको! सुनने वाले को पाप देनेवाला और कहनेवाले को लज्जा-करनेवाला वचन मैं क्या बोलूं? बिना विचारे सहसा जो कार्य मैंने किया वो मेरा मन ही जानता है. दूसरा कोई भी नहीं जान सकता है ॥ २२८ ॥ २२९ ॥

मया भवविरक्तेनाप्यद्य यावद् गृहे स्थितम्। तत्केवलं भवत्सगमेच्छैव कारणं परम् ॥२३०॥

सोऽद्य मे फलितः कामस्तृष्णा राज्यस्य मे नहि। अतो राज्यक्रमायातं गृह्यतामनुगृह्यताम् ॥२३१॥

इत्युक्त्वा हंसराजायानिच्छतेऽप्यवनीभुजा। दत्वा राज्यं च शिक्षां च प्रव्रज्या स्वीकृता गुरोः ॥२३२॥

अर्थ—संसार से विरक्त होने पर भी आज दिन तक मैं घरमें जो रहा उसका कारण केवल तेरे संगम की इच्छा मात्र ही थी। वो इच्छा आज मेरी पूरी हो चूकी। अब राज्य की मुझे तृष्णा नही है। इसलिये कुल क्रम से आये हुए ईस राज्य को लेकर अनुग्रह करो। इतना कह कर राजाने राज्य को नही चाहता हुआ भी हंसराज को राज्य और योग्य शिक्षा देकर के स्वयं गुरुजी के पास जाकर के दीक्षा स्वीकार करली ॥ २३० ॥ २३१ ॥ २३२ ॥

राज्यस्यार्द्धमदाद्धंसराजः स्वकीयबन्धवे। सार्द्धं हर्षविषादाभ्यां जगाम स्वपुरं प्रति ॥२३३॥

अर्थ—राज्य का आधा हिस्सा अपने छोटे भाई को देकर के हर्ष और विषाद के साथ हंसराज अपने नगर में पहुंच गया॥

सर्वे सोमालभूपाला जिग्यिरे खड्गधारया। विदाश्चक्रे स्वपक्षस्तु निजप्राणाधिकोऽनिशम् ॥२३४॥

वितेनिरे च निश्शेषलोकाः कामं करोज्झिताः । दूरीकृताः स्वदेशाच्चान्यायाधर्मकथा हृदः ॥२३५॥

अर्थ—सीमा में आये हुए राजाओं को तलवार की धारा से जीत लिया. और अपने पक्षवाले को हमेश अपने प्राण से भी अधिक प्रिय समझने लगे। प्रत्येक व्यक्ति को कर से मुक्त कर दिये गये। और अपने देश में से अन्याय और अधर्म की कथा को सर्वदा के लिये देश निकाला दे दिया गया ॥ २३३ ॥ २३४ ॥ २३५ ॥

एवमेकातपत्रं हि तस्मिन् राज्यं प्रकुर्वति। अन्यदा ज्ञानवांस्तत्राऽययौ साधुः कृपानिधिः ॥२३६॥

वन्दितुं तत्र भूपोऽपि स्वगुरुं चानुजान्वितः । भक्तिनुन्नो ययौ धन्यंमन्यो दयितया सह ॥२३७॥

गुरुपादान्नमस्कृत्योपविष्टश्चोचितावनौ । देशना तु समारेभे गुरुणेत्थं कृपाब्धिना ॥२३८॥

अर्थ—इस प्रकार एक छत्र धारी राजा राजहंस राज्य कर रहा था. एक दिन ज्ञानवान कृपा के सागर मुनि महाराज का पधारना हो गया। भाई तथा पत्नी के साथ राजा हंसराज अपने को धन्य समझता हुआ अपने गुरु गुरुदेव को वंदन करने के लिये बडे आडम्बर से वहां जाकर यथाविधि गुरुदेव को वंदना कर के अपने उचित आसन पर बैठ गया। उसके बाद कृपालु गुरुदेव ने भी मधुर देशना का प्रारम्भ किया ॥ २३६ ॥ २३७ ॥ २३८ ॥

भो भो भव्यजनाः! प्रायो दुर्लभं मानवं भवम्। अवाप्याखिलसामग्रीं धर्मे कार्य्यः सदोद्यमः ॥२३९॥

धर्मस्य सारमेतद्यत्पूजनं त्रिजगत्पतेः। संसारसुखसर्वस्यावाप्त्यनुत्तरकारणम् ॥२४०॥

अर्थ—हे भव्यजनों! मानव भव प्रायः दुर्लभ हैं इसलिये सब सामग्री को पाकर धर्म में हमेशां प्रयत्न करना चाहिये.

धर्म का सार यह है कि तीन भुवन के नाथ की पूजा करना. और उनका फल है कि सदैव शाश्वत सुखों को प्राप्त करना॥

विनार्हत्पूजनं जन्तुः सदा दारिद्र्यभाजनम्। आपदां मंदिरं शाश्वद् भवेत्परिभवास्पदम् ॥२४१॥
जिनार्चनादृते पुंसां किञ्चिन्नास्त्यवलम्बनम्। दुस्तरा यन्महाम्भोधिमहापूरे निमज्जताम् ॥२४२॥

अर्थ—अरिहंत देव की पूजा के बिना मानव दरिद्रता का पात्र बनता है विपत्तियोंका घर बन जाता है. और पराभव का स्थान हो जाता है. संसार रूपी समुद्र में डूबते हुए प्राणियों के लिये जिनेश्वर देवके बिना कोई आलम्बन नहीं है

जिनाज्ञा पालनं सम्यग् जिनधर्मानुसेवनम्। जिनाङ्घ्रियुगलोपास्तिर्दुरवापाङ्गिनां ध्रुवम् ॥२४३॥
स शुचिः सकुलोत्पन्न स्तस्य जीवितमुत्तमम्। दक्षता गुरुता श्लाघ्यो यः स्याद्रक्तोऽर्चनेऽर्हताम्॥२४४
चक्रीत्वं पदमैन्द्रं च राज्यं निष्कण्टकं भुवः। अन्यच्च विविधं शर्म तस्यास्ति करगोचरे ॥२४५॥

अर्थ—इसलिये जिनेश्वर देव की आज्ञा का पालन करना. अच्छी तरह जिनधर्म की आराधना करना. और जिनेश्वर के चरण कमलों की सेवा-उपासना करना परम आवश्यक है। अरिहन्त की पूजा में जो व्यक्ति अनुरक्त रहता है वही पवित्र है और वही कुलोत्पन्न है. और उसी का जीवन उत्तम है. उसी की चतुरता व महानता है. एवं वही श्लाघनीय एवं चक्रवती है और उसी के हाथ में ईन्द्र सम्बन्धी पद या संसार का निष्कण्टक राज्य शीघ्र प्राप्त हो जाता है ॥ २४५॥

यस्य जिनेश्वरे भक्तिः शाश्वती सर्वदा भवेत्। दायके मुक्तिसौख्यानां सर्वसम्पत्तिकर्त्तरि ॥२४६॥
जिनपूजा जिनावज्ञाकरणेऽत्र निदर्शनम्। श्रूयतां भविका! देवपालकोहलयोः क्रमात् ॥२४७॥



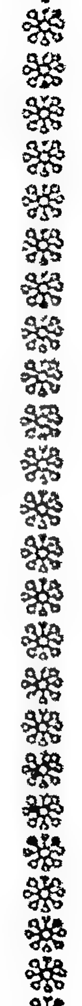
अर्थ—जिस व्यक्तिकी जिनेश्वर देव में सर्वदा मुक्ति सुख को देने वाली भक्ति है उस व्यक्ति के तमाम सम्पत्ति अपने हाथ में ही है। जिनेश्वर देव की पूजा, और जिनेश्वर देवकी आज्ञा पालने वाले देवपाल और कोहल का उदाहरण विद्यमान है। हे भव्यजनो! उसे सुनिये ॥ २४६ ॥ २४७ ॥

अथ पृष्टं गुरोः पार्श्वे हंसराजमहीभुजा। भगवन् कथ्यतां देवपालकोहलयोः कथा ॥२४८॥
जम्बूद्वीपस्य भरते पुरं सुरपुराभिधम्। अभूद् भूभामिनीभालविभूषणनिभंवरम् ॥२४९॥
तत्रासीदवनीभर्त्ता ख्यातः सिंहरथाभिधः। यत्प्रतापभयाद्भेजुर्वैरिणः शाद्वलं वनम् ॥२५०॥

अर्थ—इसके बाद राजा हंसराजने गुरुदेव से पूछा कि भगवन्! देवपाल और कोहलकी कथा कह सुनाईये। उतर में गुरुदेव कहने लगे कि जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में पृथ्वीरूप स्त्री के ललाट के भूषण तुल्य सुरपुर नामका श्रेष्ठ नगर था. वहां सिंहरथ नाम का विख्यात राजा हुआ. जिसके प्रताप के डर से शत्रु लोग हरेभरे वन में चले गये ॥ २५० ॥

शस्या काञ्चनमालेति तज्जायाविदितैर्गुणैः। यन्मनः पापविरतं रतं जिनमते सदा ॥२५१॥
यद्रूपनिर्जितारम्भोर्वशी प्रभृतयो दिवः। समुत्तरन्ति नाद्याप्यप्सरश्चकिता भृशम् ॥२५२॥

अर्थ—सुरपुर नगर के स्वामी सिंहरथ राजा की धर्मपत्नी विख्यात गुणों से प्रशस्त काञ्चनमाला नाम की थी. जिसका मन पापों से विमुक्त और जिनधर्म में अनुरक्त सदा रहता था. एवं जिसके रूपसे पराजित रम्भा उर्वशी आदि अप्सरामें खुब विस्मित होकर आज भी स्वर्ग से नीचे नहीं उतरी हो। अर्थात् कञ्चन माला इतनी सुदरी थी ॥२५१॥



तत्कुक्षिजा सुता चासीदेका मनोरमाभिधा। अपुत्रेऽपि तया राजा स्वीयं मेने सुतान्वितम् ॥२५३॥

अर्थ—काञ्चनमाला की कुक्षि से उत्पन्न हुई मनोरमा नाम की एक लडकी थी. उस से पुत्र रहित राजा अपने को पुत्रवान ही समझते थे ॥ २५३ ॥

श्रेष्ठी वसति तत्रैव जिनदत्ताभिधः पुरे। जिनार्चनपरो जैनशासनोन्नतिकारकः ॥२५४॥
भुवने यद्धनं वीक्ष्य दानभोगोचितं महत्। वैश्रवणोऽपि वित्तेशः स्वाशये श्रमणायते ॥२५५॥

अर्थ—उसी नगर मे जिनेश्वर देव की पूजा करने वाला. जैनशासन की उन्नति करने वाला जिनदत्त नाम का शेठ रहता था। संसार में रहे हुए दान और भोग के उचित धन को देख कर के धनपति कुबेर भी अपने हृदय में साधु के जैसा नर्ताव करने लगा। उसी तरह जिनदत्त भी साधु की तरह वर्तान करता था ॥ २५४ ॥ २५५ ॥

क्षत्रियान्वयसम्भूता गोपालो देवपालकः। तिष्ठति श्रेष्ठिनो गेहे प्रकृत्या सरलाशयः ॥२५६॥
अश्वगो महिषीणां स चारणपालनादिकाम्। चिन्तामहर्निशं कुर्वन् वसतिस्म तदाश्रये ॥२५७॥
देवपूजादिसत्कर्म पश्यतः श्रेष्ठिनिर्मितम्। मनीषा देवपालस्य धर्मे समुदपद्यत ॥२५८॥
प्रतिमामार्हतीं प्रातः प्रासादे वा गृहेऽपि वा। सौधे वा यत्रकुत्रापि नमत्येव स सर्वदा ॥२५९॥

अर्थ—क्षत्रिय वंश में उत्पन्न हुआ देनपाल नामका गोवालिया स्वाभाविक सरल प्रकृतिवाला शेठके घर में रहता था. जो कि घोडा गाय भैंसों को चारण पालन आदि की रातदिन चिन्ता करता था. उसकी बुद्धि शेठ से आचरित देव

पूजा आदिजन्य कर्मों को देख कर धर्म के शुभ कार्य में लग गई। वह अरिहंत देव की प्रतिमा को सवेरे मंदिर तथा घर या राजभवन में जहां तहां नमस्कार करने लगा ॥ २५६ ॥ २५७ ॥ २५८ ॥ २५९ ॥

एवं विदधतः कालं नयतस्तस्य चान्यदा। वियोगिजनताकालो वर्षाकाल समाययौः ॥२६०॥

अर्थ—इस तरह देवपाल समय बिता रहा था कि वियोगिजनों के लिये कालरूप वर्षाकाल आ गया ॥ २६० ॥

तदा घनाघनोऽतीव वर्षति स्म प्रियंकरः। सविशेषं जनानां तु कृषिकर्मविधायिनाम् ॥२६१॥

तदन्ते गोकुलं लात्वा वने चारयितुं गतः। गोपालश्चैकदैकाकी कृष्णकम्बलयष्टिभृत् ॥२६२॥

अर्थ—तब किसान लोगों को विशेषतया प्रिय लगनेवाला मेघ अत्यन्त वर्षा करने लगा, वर्षाके बाद वह गोवालिया देवपाल काली कम्बल एवं लकडीको लेकर अकेला ही गायों को चराने के लिये वन में गया ॥ २६१ ॥ २६२ ॥

दृष्ट्वा गिरिनदीनीरपूरप्रगटितादभुताम्। प्रतिमां चादिदेवस्यांशद्वयस्थजटाङ्किताम् ॥२६३॥

समुल्ललास सोऽत्यन्तं तस्या दर्शनतस्तदा। अकस्माच्च पयोराशिश्चन्द्रालोकनतो यथा ॥२६४॥

अर्थ—पहाडों की नदी की धारा से प्रगटित हुई अनोखी आदीश्वर भगवानकी दोनों कन्धेमें रही हुई जटाओं से सुशोभित प्रतिमा को देवपाल देख कर चन्द्रदर्शन से समुद्र की भांति खुब हर्षित हुआ ॥ २६३ ॥ २६४ ॥

दूरीकृत्यरजः पूरं तन्मूर्तिः प्रकटीकृता। पीठमुच्चैस्तरां कृत्वा तत्र तेन निवेशिता ॥२६५॥

निम्नगानीरमानीय संशोध्य तेन सार्चितः। रोमाञ्चितशरीरेण चेलसीति विचिन्तितम् ॥२६६॥

परप्रेष्योऽपि धन्योऽहं सहसानभ्रवृष्टिवत्। यद्भाग्यतो जगन्नेता जातो मद्दृष्टिगोचरे ॥२६७॥
आत्मानं कृतिनां धुर्यमग्यपुण्यवतामहम्। मन्ये युगादिदेवाङ्घ्रिसरोरुहनिषेवणात् ॥२६८॥

अर्थ—धूली को हटाकरके उस मूर्ति को देवपालने बहार निकाली। फिर अच्छी पीठ बना करके ऊपर स्थापन कर दी। उसके बाद गंगाजल लाकर के संशोधन करके शुद्ध पूजा की। उस समय सोचने लगा कि मैं दूसरो का नोकर हूं फिर भी आज अचानक बिना मेघ की वृष्टि की तरह भाग्यवश जगतके मालिक मेरे सामने आये। आदीश्वर भगवानके चरण कमलों की सेवा से मैं अपने को धन्य और पुण्यशालियों में उत्तम समझता हूं॥ २६५ ॥२६६॥२६७॥२६८॥

जिनदत्तोऽपि मत्स्वामी स्वगेहे स्वामिनं यथा। नमत्यर्चति सस्तौति ध्यायत्याराधयत्यमुम् ॥२६९॥
नन्तव्यः सेवनीयोऽयं स्तोतव्यो ध्येय एव च। आराध्यो विधिनार्च्योऽयं भक्ति पूर्वं मया तथा॥२७०

अर्थ—जिस प्रकार जिनदत्त मेरा मालिक अपने घरमें प्रभुको नमन पूजन स्तुति ध्यान और आराधन करता है उसी प्रकार मैं भी भक्तिपूर्वक प्रभु को नमन पूजन स्तुति ध्यान और आराधन अनेक विधि से करूंगा ॥ २६९ ॥ २७० ॥

किं बहुनाद्य पश्चान्मे नियमो जीविताववधि। न भोक्तव्यमनाभ्यर्च्यानालोक्यप्रतिमामिमाम् ॥२७१॥
एवमङ्गीकृतं स्वीयनियमं परिपालयन्। तदायत्तानि कर्माणि कुर्वन् सुखं स तिष्ठति ॥२७२॥

अर्थ—विशेष क्या? आज से लेकर जब तक जीवित रहुंगा तब तक इस प्रतिमा के दर्शन पूजन किये बिना नहीं खाऊंगा। इस प्रकार स्वीकार किये हुए नियमों का पालन करता हुआ तथा अपने नित्य का कार्य करता हुआ देवपाल

सुख पूर्वक रहने लगा ॥ २७१ ॥ २७२ ॥

आकस्मिकोऽन्यदा तत्र ववर्ष मुदिरो महान् । ससाहेनाखिलो लोकस्तेनाकुल इवाभवत् ॥२७३॥
न शशाक बहिर्गन्तुं कोऽपि मानवकस्तदा । अद्य सोऽपि क्षुधार्त्तोऽस्थाज्जिनेशदर्शनं विना ॥२७४॥

अर्थ—एक दिन वहां अचानक मेघ अत्यन्त वर्षा करने लगा. लगातार सात दिन तकवर्षा होती रही. उससे जनता व्याकुल हो चूकी। कोई भी वहार नहीं निकल सकता था. इतने दिन जिनेश्वर के दर्शन के विना देवपाल ने भूख और प्यास से व्यतीत किया ॥ २७३ ॥ २७४ ॥

ऋषिसंख्यदिनप्रान्ते वर्षासु विरतासु च । द्रष्टुं युगादिदेवं स क्षुधाक्षामो ययौ वनम् ॥२७५॥
तत्रगत्वापगानीर मानीयातीव निर्मलम् । संस्नाप्य पूजयामास पत्रैः पुष्पैर्वनोद्भवैः ॥२७६॥
नभःस्थो व्यन्तरः कश्चित्तदा तद्भक्तिरञ्जितः। देवपालमिति प्राह तुष्टोऽहन्ते किमिच्छसि ॥२७७॥

अर्थ—सात दिन बीत जाने पर वर्षा बंद हुई. फिर भूख से दुर्बल देवपाल आदीश्वर भगवान के दर्शनार्थ वन में जा पहुंचा. वहां नदी का अति स्वच्छ जल लाकर स्नान कराने के बाद उसने वन सम्बन्धी पत्र पुष्प आदि द्वारा आदीश्वर देव की खुब पूजा की। तदनन्तर देवपाल की भक्ति से तुष्ट होकर के आकाश में रहे हुए किसी देवने देवपाल को कहा कि मैं तेरे ऊपर प्रसन्न हूं. तुम क्या चाहते हो ? ॥ २७५ ॥ २७६ ॥ २७७ ॥

तेनेति गदितं देव ! यदि दातुं क्षमो भवान् । राज्यं देहि परं याचे नैव वस्तु कदाचन ॥२७८॥

व्यन्तरस्तमथावादीद्राज्यमाप्स्यसि वेगतः। जिनेशाराधनं कुर्वंस्ततोऽस्मिंस्तिमिती भव ॥२७९॥

अर्थ—देवपालने कहा कि हे देव! यदि आप देनेमें समर्थ हो तो मुझे राज्य दो. दूसरी चीजें मैं कभी नहीं मांगता हूं। उतर में व्यन्तर देवने कहा कि जिनेश्वरदेव की सेवा करने से जल्दी तुम राज्य पाओगे, इस में सदा आसक्त रहो॥

तद्वाक्यतो विशेषेण देवपालो जिनेश्वरम्। गोकुल चारयन्नित्य मर्चति तृष्णया तया ॥२८०॥

अर्थ—उस देव के वाक्य से देवपाल गायों को चराता हुआ राज्य के लालच से जिनेश्वर देव की विशेष प्रकार से पूजा करने लगा॥ २८०॥

इतश्च समये तस्मिन् दमसारतपस्विनः। केवलज्ञानमुत्पन्नं वने तत्रातिशोभने ॥२८१॥

त्रिदशैर्दुन्दुभेर्नादोद्घोषः प्रगटितोऽम्बरे। गन्धाम्बुवृष्टिसहिता पुष्पवृष्टिः कृता तदा ॥२८२॥

अर्थ—इधर उसी समय में दमसार नामक तपस्वी को अति सुन्दर वन में केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। आकाश में देवताओंने उच्चे स्वर से दुंदुभि का बाजा बजाया. और सुगन्धित जल वर्षा के साथ पुष्पोंकी वर्षा की ॥२८१॥२८२॥

अष्टपत्रमयं हेमाम्भोज निर्मापितं सुरैः। तत्रासीनो मुनिर्दातुं देशनामसृतोपमाम् ॥२८३॥

अर्थ—देवताओं ने अष्टपत्रमय सुवर्ण के कमल का सिंहासन बनाया. उसके ऊपर दमसार केवली महाराज अमृत के समान देशना देने के लिये बैठे॥ २८३॥

तदा सिंहरथो राजा स्वपुराज्ज्ञानिनो वचः। श्रोतुं वरगजारूढः समेतः स्वजनैः सहः ॥२८४॥

वचः केवलिना प्रोचे भव्याः ! मूढतरैर्जनैः । कल्पवृक्षाधिको मर्त्यभवो हा ! हार्य्यते वृथा ॥२८५॥
आयाति नैव साम्राज्यं सार्थं भार्य्यापि नो सुतः । केवलं स्वकृतं पुण्यं पापमायाति सर्वदा ॥२८६॥
अधो लोके च तिर्य्यक्षु स्वर्गभूमौ न विद्यते । नृवर ! पुण्यसामग्री सम्यगस्मिन्भवेऽस्ति वै ॥२८७॥

अर्थ—उसके बाद सिंहरथ नामका राजा श्रेष्ठ हाथी पर आरूढ होकर के परिवार के साथ ज्ञानीमहाराज की देशना श्रवण करने के लिये नगर से यहां आ पहुंचा. केवलीने प्रवचन में कहा कि हे भव्यजनों ! कल्पवृक्ष से अधिक श्रेष्ठ मानव भव को मूर्ख लोग बेकार (व्यर्थ) हार जाते है । क्योंकि साथमें साम्राज्य नहीं आता, स्त्री नहीं आती. और न संतान ही आती. केवल अपने से किये गये पुण्य अथवा पाप ही साथ आते है । इसलिये हे मनुष्यों ? अधोलोक में, तिर्यंच में, और स्वर्गभूमि में भी पुण्य सामग्री नहीं है. केवल इसी भव में पुण्य सामग्री है । साधन कर लो ॥२८४॥८५॥२८६॥८७॥

अमुं यो मानवं मूढा भवं विषयलोलुपाः । गमयन्ति मुधा साक्षात्पशवस्ते नराः परम् ॥२८८॥
येन नो गृह्यतेऽमुष्मिन् भवे सुकृतशम्बलम् । तेनेप्सितं परत्रेहानुभूयते कथं सुखम् ॥२८९॥
तोयं सच्छिद्रपाणिस्थं रक्षमाणमपि व्रजेत् । आयुस्तथा प्रयात्येव कृते यत्नेप्यनेकधा ॥२९०॥

अर्थ—विषयो में लोलुप जो मूर्ख व्यक्ति इस मानव भव को व्यर्थ गमा देते है । वह साक्षात्पशु है । इस भव में पुण्यरुपी पाथेय को नहीं लेता है वह इस लोक तथा परलोक में अभिलषित सुख कैसे पावेगा ? छिद्र सहित हाथों में रहा हुआ जलको रक्षा करने पर भी वह जैसे चला ही जाता है वैसे ही अनेक प्रकारों से अनेक आयास करने पर भी प्राणियों

की आयु चली ही जायगी ॥ २८८ ॥ २८९ ॥ २९० ॥

धन गिरिनदीपूरचपलं जीवितं विदन्। यौवनं च गतप्रायं स्वहिते कोऽलसायते ॥२९१॥
गतोऽयमथवा गन्ता श्वासस्यगतिरीदृशी। विश्वासं कुरुते को हि तदायत्ते हि जीवने ॥२९२॥
इति ज्ञात्वा प्रमादं च त्यक्त्वा कृत्वा स्थिरं मनः। संसाराब्धितरीतुल्ये रतिं कुर्वन्तु संयमे ॥२९३॥

अर्थ—पहाडों की नदी की धारा के समान चलायमान धन जीवन तथा गई गुजरी जवानी को समझता हुआ भी आलस कर पडता है, यह श्वास गया अथवा चला जायगा ऐसी श्वास की गति को जानकर भी आलस में समय खोता है वह अवल दर्जे का मूर्ख है। धन जीवन तथा जवानी क्षणभंगुर है ऐसा समझ कर प्रमादों को छोड कर मन को स्थिर करके संसाररूपी समुद्र से पार ले जानेवाला नाव के तुल्य संयम से रति-प्रेम करो ॥२९१॥२९२॥२९३॥

देशनान्ते नृपोऽपृच्छन्निजायुर्गुरुसन्निधौ। गुरूणापि तदा प्रोक्तमायुस्तेऽस्ति दिनत्रयम् ॥२९४॥
विलक्षोऽथ नृपोऽभाणीत्किं कर्त्तव्यं मया विभो !। विना पुत्रेण मद्राज्यं शून्यमायुर्दिनत्रयम् ॥२९५॥
त्रिदिनान्तः कियत्पुण्यं कुर्वे चिन्ता निकेतनम्। गुरुराख्यन्नृपं वत्स ! माचादीरीदृशं वचः ॥२९६॥
संयमी त्वेकघस्रेण तावत्पुण्यमुपार्जयेत्। यावता शिवमाप्नोति केन लेभे दिनत्रयी ॥२९७॥

अर्थ—प्रवचन के अन्त में गुरु के पास राजाने अपना आयुष्य पूछा। उत्तर में गुरुदेवने कहा कि तीन दिनका आयुष्य अब है। इस के बाद सोच में पडे हुए राजाने कहा कि हे प्रभो ! मेरा आयुष्य तीन दिन ही रहा है और यह राज्य

विना पुत्र के सूना है मैं क्या करुं ? तीन दिन में मैं क्या काम कर सकता हूं ? इस प्रकार राजा के वचन सुनकर गुरुदेवने कहाकि हे वत्स ! ऐसा वचन मत बोलो। क्योंकि पुरुष एक दिनके शुद्ध चारित्र पालने से इतना पुण्य उपार्जन कर सकता है कि मोक्ष सुख पा लेवें। फिर तीन दिन का तो कहना ही क्या ? ॥२९४॥२९५॥२९६॥२९७॥

श्रुत्वा गिरं गुरोर्गत्वा गृहं भूपो व्यमर्शयत्। कस्य, दत्वाऽधुना राज्यं स्वयं गृह्णामि संयमम् ॥२९८॥
इति चिन्ता परस्यास्य शयने शयितस्य च। निद्रासुखमवासस्याऽऽभाणि गोत्रजया निशि ॥२९९॥
राजन्निजाशये राज्यचिन्तां मा कुरु साम्प्रतम्। मयि सत्यां कुतस्तेऽत्र चिन्ता निखिलवस्तुनः ॥३००
मन्त्राभिमन्त्रितं मुञ्च पुरान्तर्दिव्यपञ्चकम्। यस्मै यच्छति राज्यं तद्देयं राज्यं त्वया निजम् ॥३०१॥

अर्थ—गुरु के वचन सुनकर राजा राजभवन में जा विचार करने लगा. कि अब राज्य किसको देकर स्वयं संयम ग्रहण करुं ? इस प्रकार चिन्ता करता हुआ शय्या पर सोता हुआ निन्द ले रहा था. उस समय गोत्रदेवीने कहा कि हे राजन् ! मेरे रहते हुए किसी भी वस्तु की तुम को कोई भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। मंत्रों से अभिषेक करके पंचदिव्य प्रकट कर नगर में छोड दो. जिसका अभिषेक पंचदिव्य करें उस को राज्य दे दीजिये ॥२९८॥ २९९ ॥ ३०० ॥३०१॥

ततो निजसुतां तस्मै दत्वा लात्वा च संयमम्। भवेः सर्वोत्तरस्वार्थसाधनाहितमानसः ॥३०२॥
इति तद्देवतावाक्यं श्रुत्वोषसि नरेश्वरः। मुमोच मंत्रितं दिव्यपञ्चकं नगरान्तरे ॥३०३॥
तेनाखिलं पुरं भ्रान्त्वा गतं तत्रैव कानने। अस्ति यत्र च गोपालो देवपालाह्वयो वने ॥३०४॥

अर्थ—उसके वाद अपनी लडकी उस लडके को देकर के संयम को स्वीकार कर स्वार्थ साधनमें मन लगा देना। इस प्रकार देवता की बात सुन कर राजाने सवेरे छत्र चामरादि पञ्चदिव्यो को मंत्र से अभिषेकपूर्वक नगर में छोड दिये। पञ्चदिव्य भी नगरमें घूमता हुआ वनमें जा पहुंचा जहाकि देवपाल नाम का गोवालिया था ॥३०२॥३०३॥३०४॥

तैः पञ्चभिरपि स्वस्याधिकारः प्रगटीकृतः। वितेने बन्दिभिस्तत्र महाञ्जयजयारवः ॥३०५॥

अर्थ—वहां पर पञ्चदिव्योने अपना प्रभाव बता दिया. अर्थात् स्वयं पञ्चदिव्य प्रकट हो गये। वंदी गण उस समय महान् जय जय शब्द बोलने लगे ॥ ३०५ ॥

सुता विवाह्य भूपेन पाणिमोचनदम्भतः। तस्मै दत्वा महद्राज्यं गत्वा गुर्वान्तिकं ततः ॥३०६॥
प्रव्रज्यां भगवद्दत्तामङ्गीकृत्य दिनत्रयम्। प्रपाल्यानशनाल्लेभे तुर्ये कल्पे सुरेन्द्रताम् ॥३०७॥

अर्थ—देवपाल के साथ राजा अपनी लडकीका विवाह कराकरके पाणि छोडाने के व्याज से सारा राज्य ही उसको देकर के स्वयं गुरुके पास जा भागवती दीक्षाको स्वीकार कर तीन दिन की आराधनाके साथ अनशन पूर्वक अपना आयुष्य को पूर्ण करके चौथे देवलोक में इन्द्र पने से उत्पन्न हुआ ॥ ३०६ ॥ ३०७ ॥

व्यन्तर कृत सान्निध्यात्सोऽथ राज्यं सुमण्डितम्। अकस्माद् यद्यपि प्रापेतरलोकदुरासदम् ॥३०८॥

अर्थ—देवता के सानिध्य से इतर लोकों से दुष्प्राप्य सुसज्जित राज्य को देवपालने अचानक प्राप्त कर लिया ॥३०८॥

न मन्यन्ते परं केऽपि सामन्त सचिवादयः। अन्येऽपि राज्यवर्गीयास्तस्याज्ञां च मनागपि ॥३०९॥

तेनाहूतोऽपि नैवागाच्छ्रेष्ठी तं जिनदत्तकः । अवज्ञयेति मद्गेहे गोपालोऽयमनेन किम् ॥३१०॥
यष्टिगोदोहनीकृष्णकम्बलादितदीयकम् । नीत्वा प्रत्युत तद्वेषं राज्यद्वारे मुमोच सः ॥३११॥

अर्थ—लेकिन सामन्त मन्त्री और राज्य कर्मचारी आदि कोई भी उस की आज्ञा को नहीं मानता था. देवपाल राजा से जिनदत्त को बुलाया गया भी जिनदत्त शेठ "मेरे घर का यह गोवालो था. इससे क्या होगा, ऐसे अपमान से उस के पास भी नहीं आया। उलटा देवपाल के गोवालिये का कालीकम्बल आदि वेष को लाकर के राज्य के द्वार पर जिनदत्त शेठने रख दिया ॥ ३०९ ॥ ३१० ॥ ३११ ॥

तद्वीक्ष्य चिन्तितं तेन किं कुर्वेऽहं ब्रवीमि किम् । मन्यते न मदीयाज्ञां सामान्योऽपि जनः पुरे ॥३१२॥
अथवा चिन्तनेनालं गत्वा विज्ञपयाम्यहम् । तमेव चिन्तितातीतकामदं जगदीश्वरम् ॥३१३॥
मामुत्थाप्य निराकृत्य गोपवेषं ममाशु च । अचिन्तितं महद्राज्यं येन दत्तं पुरेदृशम् ॥३१४॥

अर्थ—उस वेष को देख कर देवपाल सोचने लगा. कि क्या करुं ? क्या बोलूं ? क्योंकि नगर में सामान्य मनुष्य भी मेरी आज्ञा नहीं मानता है । अथवा बेकार चिन्ता करना है. सोचता हुआ अतीत मनोरथों को देनेवाला उस जगतके नाथ के पास जाकर निवेदन करुं, जिसने ग्वाले के वेष को हटा करके विना सोचे विशाल राज्य मुझे दे दिया है ॥३१२॥

इति ध्यात्वा वनं गत्वाऽवाप्य देवं हृदिस्थितम् । प्रणम्य घनया भक्त्या संस्नाप्य विमलैर्जलैः॥३१५
विलिप्यचन्दनेनाङ्गमभ्यर्च्य कुसुमोच्चयैः । उत्क्षेप्य धूपममलं कर्पूरागुरुमिश्रितम् ॥३१६॥

विधिनैव समभ्यर्च्य पश्चाच्चस्वकरद्वयम् । संयोज्य नूतनो राजा देवं विज्ञसवानिति ॥३१७॥
राज्य यथा त्वया दत्तं पुरा मे सेवकप्रिय ! । प्रतापमपि मे देहि येन राज्य स्थिरी भवेत् ॥३१८॥

अर्थ—उक्त प्रकार से सोच विचार कर, वन में जाकर, हृदय में धारण किये हुए देव को प्राप्त कर, सादर प्रणाम पूर्वक. स्वच्छ निर्मल जल से अत्यन्त भक्ति पूर्वक स्नान करा कर, अङ्ग पर चन्दन का विलेपन कर के, पुष्पो से पूजा कर, कपूर अगर की लकडी से मिश्रित सुन्दर धूप कर के, नवीन राजा देवपाल अपने दोनों हाथो को जोड कर प्रार्थना करने लगा । हे भक्त वत्सल ! सेवकप्रिय ! जैसे आपने पहले राज्य दिया वैसे ही मुझे प्रताप भी दो. जिससे दिया हुआ राज्य स्थिर रह सकें ॥ ३१५ ॥ ३१६ ॥ ३१७ ॥ ३१८ ॥

ततस्तं व्यन्तरोऽवोचन्नभस्थः श्रृणु भो नृप ! । मृन्मयं गजमारूढः पुरं सञ्चर मद्गिरा ॥३१९॥
लोकाश्चर्यकरे चास्मिन् कृते कार्ये चिरादपि । प्रतापभाग्ययोर्वृद्धिर्भविष्यति तवाधिका ॥३२०॥
सर्वत्र तव सान्निध्यं करिष्ये मद्वचोऽन्यथा । मावेहि गिरमित्युक्त्वा तिरोऽभूद् व्यन्तरः क्षणात् ॥

अर्थ—उस के बाद आकाश मे रहे हुए व्यन्तर देव ने कहा कि हे राजन् ! सुनो, मट्टी के हाथी पर चढ कर मेरे वचन से नगर मे घुमो, लोकों को आश्चर्य कारी इस कार्यसे तेरे प्रताप और भाग्य की वृद्धि बहुत काल तक होती रहेगी। सब जगह तेरे सान्निध्य में ही रहूंगा। मेरा वचन उलटा नही होगा. इतना कहनेके बाद देवता अन्तर्धान होगया ॥३२१॥

ततोऽतिप्रमनाः सोऽपि गेहमागत्य तत्क्षणात् । कुलालगणमाहूयादिदेशेति गभीरगीः ॥३२२॥

कुर्वन्तु मृन्मयसद्यो मद्वाहनोचितं गजम् । अहं तमिभमारुह्य द्रक्ष्यामि सकलं पुरम् ॥३२३॥
चलिष्यति प्रतापान्मे सर्वेषां पश्यतामिभः। तस्मिन्दृष्टेऽपि यः कोपि मदाज्ञां खण्डयिष्यति ॥३२४॥
तस्य सर्वं हरिष्यामि जीवितं द्रविणादिकम् । आसीत्कालमियन्तं मे दया चातः परं नहि ॥३२५॥

अर्थ—उस के बाद अत्यन्त खुश होकर के देवपाल राजा उसी समय नगर में आकर के कुम्भारों को बुलाकर के गंभीर वाणी से कहा कि मेरे सवारी के योग्य मट्टी का सुन्दर हाथी अभी बना दो। मैं उसके ऊपर बैठ करके समूचे नगर को देखूंगा। मेरे प्रताप से वह हाथी चलेगा, और आप सब लोग देखना। इस प्रकार के हाथी को देखने पर भी जो कोई मेरी आज्ञा का भंग करेगा, उसका जीवन धन आदि सर्वस्व हरण कर लूंगा। इतने दिन दया पालीथी परन्तु अब इस के बाद दया नहीं की जायगी ॥ ३२२ ॥ ३२३ ॥ ६२४ ॥ ३२५ ॥

कुलालैश्च नृपादेशाच्छीघ्रं निर्माप्य भूपतेः । अत्याश्चर्यकरस्तस्य दर्शितो मृन्मयोगजः ॥३२६॥
राज्ञा तच्छिल्पकारिभ्यो दत्वा दानं यथोचितम् । आहूता विविधामात्यमण्डलोकादयो जनाः॥
परं ते केऽपि नायाताः स्वस्वमन्दिरतोऽभयाः। नृवरं हसितुं लग्ना अन्योन्याननदर्शिनः ॥३२८॥

अर्थ—कुम्भकारोंने राजा के आदेश से मट्टी का ऐसा हाथी सुन्दर बनाया कि राजा भी क्षुब्ध होगया। तत्पश्चात् उन शिल्पियों को उचित दान देकर राजाने अनेक मंत्रिमण्डल आदि प्रजाजनों को बुलाया, परन्तु निर्भीक होकर बैठे रहे। कोईभी नहीं आया। उलटा एक दूसरे का मुख देखकर राजा की हंसी करने लगे ॥३२६॥३२७॥३२८॥

अथारोहदिभं राजा चचाल मृन्मयो गजः। चित्रीयन्ते स्म सर्वेऽथाऽऽययुस्तच्छरणं जनाः ॥३२९॥
श्रेष्ठी तत्कौतुकाक्षिप्तचेतास्तं प्रणनाम च। राज्ञा प्रसन्नचित्तेन सोऽपि मेने स्वतातवत् ॥३३०॥

अर्थ—इसके बाद राजा उस हाथी पर चढ गया, वह मट्टी का हाथी चलने लगा, सब के सब आश्चर्य में पड गये, और राजा की शरण मे आगये, उस तमाशा को देखने की इच्छा वाला शेठने भी आकरके राजा को प्रणाम किया। उस समय राजाभी शेठ को अपने पिता के समान मानने लगा ॥ ३२९ ॥ ३३० ॥

मृन्मयेभसमारूढो राजागाज्जिनमन्दिरम्। तत्रादिमजिनं नत्वा निजागारं पुनर्ययौ ॥३३१॥
तत्र सिंहासनासीनो नृपोऽखिलजनैर्वृतः। तदाज्ञा मस्तके दध्रे चकम्पेऽरिजनैस्तदा ॥३३२॥

अर्थ—मट्टी के हाथीपर सवार होकर के राजा जिनमन्दिर में गया, वहा आदीश्वरदेव को नमस्कार करने के बाद वापिस भवन मे आ पहुंचा, वहापर चारों तरफ जनताओं से घेरा कर सिंहासन पर बैठ गया, फिर उसकी आज्ञा को–शिर पर लोग धारण करने लगे, और शत्रु वर्ग भी डरने लगे ॥ ३३१ ॥ ३३२ ॥

उपार्जितं यशस्तेन कविवृन्दं तु सत्कृतम्। धनदानेन दारिद्र्यमर्थिनां च निराकृतम् ॥३३३॥
विधाय्य चारुसद्धेममयं चैत्यं नभोलिहम्। दीप्तिमद्द्वादशादित्यतेजः पुञ्जवदुज्ज्वलम् ॥३३४॥
तत्रोत्सवेन साकञ्च महता कामितप्रदा। युगादिदेवमूर्त्तिर्वै तेन संस्थापितादिमा ॥३३५॥

अर्थ—राजाने यशका उपार्जन किया, कवियों का सत्कार किया, और याचकों की दरिद्रता को धन से हटा दी,

और उज्ज्वल बारह सूर्यों के तेजसमूह के समान उज्वल और आकाश को चूमने वाला सुन्दर सुवर्णमय मन्दिर बनवा कर उस में महान् उत्सव के साथ मनोरथ को पूरण करने वाली आदीश्वर भगवान की पहली प्रतिमा को राजाने गादी पर स्थापन करवाई ॥ ३३३ ॥ ३३४ ॥ ३३५ ॥

नन्तुं प्रतिदिनं भूपो यात्येव तं जिनेश्वरम् । अतस्तज्जायया पृष्टोऽवनीशश्चैकदा रहः ॥३३६॥
स्वामिन् प्रयासि नित्यं क्व तेनोक्तं श्रीजिनालये। सा तमाह पुनःकान्तैस्याम्यहं भवता सह ॥३३७

अर्थ—राजा हमेश उस आदीश्वर भगवान को नमस्कार करने के लिये जाने लगा, एक समय एकान्त में रानीने राजा से पूछा कि हे प्राणनाथ ! आप रोज कहां जाते है ? उतरमें राजाने कहा कि जिन मन्दिर में दर्शनार्थं जाता हूं। फिर रानीने कहा हे स्वामिन् ! आप के साथ मैं भी आऊंगी ॥ ३३६ ॥ ३३७ ॥

अथ कान्तां समाहूय गतो नन्तुं जिनं नृपः । हेमं राज्यपि तच्चैत्यमवलोक्य प्रहर्षितम् ॥३३८॥
तदालोकनतोऽत्यन्तरोमाश्चितशरीरया । तयाऽभाण्यवनीकान्त ! जाताहं पुण्यभाजनम् ॥३३९॥
मत्कर्णयुगलं धन्यं मच्छिरः सुभगं शुचि । मच्चक्षुर्द्वितयं मन्ये जिनश्रुतिनतिक्षणैः ॥३४०॥
त्वया सह मया नित्यमागन्तव्यं महीप्रभो !। नियमोऽयं मयेदानीं गृहीतो जिनसाक्षिकम् ॥३४१॥

अर्थ—एक समय रानी को बुलाकर राजा स्वयं साथ लेकर जिनेश्वरको नमस्कार करने के लिये गया, रानी स्वर्णमय मन्दिर को देख खुब खुश खुश होगई, उस भगवान की प्रतिमा को देखने से पुलकित शरीरवाली रानीने कहा कि हे

स्वामिन् ! मैं पुण्य का पात्र वन चूकी, क्योंकि जिनेश्वर की कथा से मेरे दोनों कान धन्य हो गये, और जिनेश्वर भगवान को नमस्कार करनेसे शिर पवित्र व. सौभाग्यशाली हो गया. जिनेश्वरदेवके दर्शनसे मेरी दुसरी आंख हो गई। इसलिये हे प्रभो! आप के साथ मैं भी रोज आऊंगी. यह नियम मैंनें आज जिनेश्वर देवके सामने लिया है ॥३३८॥३९॥४०॥४१॥

इत्यभिग्रहतो नित्य जिनागारं समेति सा। स्वकान्तेन समं प्रातः सर्वाभरणभूषिता ॥३४२॥

अर्थ—इस प्रकार नियम लेकर अनेक आभूषणों से सज्जित रानी अपने पति के साथ हमेश प्रातःकाल जिनेश्वरके दर्शनार्थ जाने लगी ॥ ३४२ ॥

अन्यदा तु तया चैत्यगतया स्वामिना सह। तद्द्वारवेदिकोर्ध्वस्थो दृष्टश्चैकः कवाडिकः ॥३४३॥
शिरस्थेन्धनभारेण निर्विण्णो नितरां कृशः। जीर्णात्यन्तमलक्लिन्नाम्बरै राच्छादिताङ्गभृत् ॥३४४

अर्थ—एक दिन पति के साथ जिन मन्दिर जाती हुइ रानीने जिनालय के दरवाजा के पास वेदिकाके ऊपर खडा हुआ माथे पर लकडी की भारी लिया हुआ. अत्यन्तदीन जीर्ण व अत्यन्त मेल से भरपूर कपडे से आच्छादित शरीरवाला एक कवाडीक को देखा ॥ ३४३ ॥ ३४४ ॥

मयाऽयं क्वापि दृष्टोऽभूच्चिन्तयन्तीति साशये। पश्यन्ती तं मुहुर्भूमौ मुमूर्च्छ निपपात च ॥३४५॥
विषार्दिताऽवनीकान्ता कृतशीतोपचारतः। स्वस्थीभूय जगादैषा वाक्यमेवं पुनः पुनः ॥३४६॥
अडविहि पन्ती नइहिं जलतोवि न वूहा हत्थ। अव्वोतीह कवाडियह अज्जवि सज्ज भवत्थ ॥३४७

अर्थ—कवाडी को देख कर रानी मन में सोचती है कि अहो ! इस को तो मैंनें कंही पर देखा है. इतना विचार करने के बाद वापिस उसको देखती हुई मूर्च्छित हो भूमि पर पड गई, खेद से पीडित रानी शीतल उपचार करने पर स्वस्थ हुई । फिर वार वार निम्न लिखित वाक्य को बोलने लगी । ...अडविहि...इत्यादि...॥३४५॥३४६॥३४७॥

राज्ञोक्तं किं त्वया देवि ! प्रोच्यते चित्र कृद्वचः । आशु तद्वचनस्यास्य वृत्तान्तं मे निवेदय ॥३४८॥

अर्थ—इस प्रकार सुनकर राजाने रानी से कहा कि हे देवि ! तुम क्या विचित्र वातें कह रही हो ! जल्दी इस बात की कहानी कह सुनाओ ॥ ३४८ ॥

देव्या प्रोक्तं निषीदास्मिन् देवद्वारे क्षितीश्वर ! । यथादितो ब्रवीम्येतद् वृत्तान्तं भवतोऽखिलम् ॥३४९

सद्यस्तथाकृतेराज्ञि तया जवनिकान्तरे । उपविश्याग्रतो भर्तुर्जगदे सर्वसाक्षिकम् ॥३५०॥

कोहलाभिधमासीनं चैत्योपान्ते कवाडिकम् । एधो भाराङ्कितं खिन्नमाहूयात्रोपवेशय ॥३५१॥

अर्थ—उतरमें रानीने कहा कि हे भूपते ! इस मन्दिर के दरवाजे पर बैठिये, आप को आदि से लेकर अन्ततक सब किस्सा कह सुनाती हूं । राजा के तुरन्त बैठ जाने पर पर्दा के बीच बैठ सब के समक्ष रानीने कहा कि मंदिर के पास बैठा हुआ कोहल नामका कवाडिक है वह काष्ट के भारसे खेदित है. उसे बुलाकर यहां बैठा दीजिये ॥३४९॥५०॥५१॥

नृपादेशात्तमायातमासन्नं वीक्ष्य साऽवदत् । भद्र ! ते भद्रिला नाम्ना पत्न्यासीज्जिवितप्रिया ॥३५२॥

तेनोक्तं सत्यमेवैतत् पुनर्देवी वचोऽवदत् । भो भवान् भद्रिलायुक्त श्चैकदात्रागतोऽभवत् ॥३५३॥

अत्रादिदेवमूर्त्तिम्वे समीक्ष्य त्वा जगाद सा। चेदावामर्चयावोऽमुं न भवावोऽतिदुःखिनौ ॥३५४॥
इत्थं तज्जल्पितं श्रुत्वा तामाहेति पुनर्भवान्। न वेत्सि धर्मविकले ! मदवस्थामवेतनाम् ॥३५५॥

अर्थ—राजा की आज्ञा से समीप में आये हुए उस को देख रानी कहने लगी, हे भद्र ! भद्रिला नामकी पत्नी तेरे जीवन में प्रिय थी ? कशाडिकने कहा हा, फिर से देवी बोली. अरे ! भद्रिला के साथ एक दिन तूं यहां आया था. यहा आदीश्वरदेव की मूर्त्ति को देख कर भद्रिलाने तुझे कहा कि यदि अपने दोनो इन देव की पूजा करें तो विशेष दुःखी नही होगें। इस बात को सुनकर तुमने उस को कहा कि हे धर्मविकले ! तुं मेरी अवैतनिक दशाको नही जानती है? ॥३५२॥

एधोभारेण निर्विण्णो न जाने किन्तु पूजनम्। जानन्नपि न कर्तास्म्यनेनायासेन किं फलम् ॥३५६॥

अर्थ—लकडी के भारसे मै व्याकुल हूं. मैं पूजाको नही जानता, अगर जानता भी हूं तो भी नही करुंगा। क्योंकि इस पूजा से क्या फल ? ॥ ३५६ ॥

ततस्तं धर्मविमुखं ज्ञात्वा नद्यम्बुना जिनम्। तया संस्नाप्य कल्हारपत्रेणाभ्यर्च्य सस्तुतः ॥३५७॥
बद्धं शुभ मनुष्यायुस्तया जिनवरार्चनात्। अथानवासराज्यस्त्वं जिनं नमस्तदेक्षितः ॥३५८॥
जिनं नमन्तमीक्ष्य त्वां विचिन्तितं तयाशये। तुल्येऽपि निर्धनत्वेऽयमर्चतीमं न मे पतिः ॥३५९॥
आदिदेवार्चनेनाहमद्यजाततराशुचिः। श्लाघयन्तीति स्वंभर्त्रा सहागात्सा निजालयम् ॥३६०॥

अर्थ—उस के इस प्रकार वचन सुनकर के, उसकी धर्ममें अरुचि समझ कर भद्रिलाने जिनेश्वरको नदीके स्वच्छ जल

से प्रक्षाल कराकर कल्हार नामक पुष्प और पतों से पूजा कर स्तुति की। उस जिन पूजासे उसने शुभ मनुष्यके आयुषका बन्धन किया। इधर तुमने राज्य नहीं पाया, फिर जिनेश्वर देव को नमस्कार करना शुरु किया, एक दिन जिनेश्वर देव को नमस्कार करता हुआ देखकर मनहीमन उसने सोचा कि गरीब पने में समान होने पर भी मेरे पति जिनेश्वरको नहीं पूजते है, आज मैं आदीश्वर देव की पूजासे पवित्र होगई हूं. इस तरह अपनेको धन्य समझती हुई पतिके साथ अपने घर गई॥

निशायां सा शुभध्यानपरा विशुचिकावशात्। मृत्वा राजाङ्गजैषाहं जाता सौभाग्यसेवधिः॥३६१॥

अर्थ—रातमें शुभ ध्यान करती हुई अचानक हैजासे मर गई. वह मरकर सौभाग्य सम्पन्न राजकन्या हुई है. और वह मैं हूं.

अथेदानीं कुरुपं तु पश्यतोऽमुं कवाडिकम्। जातिसंस्मरणं जातं ततोऽधीतं मयात्विदम् ॥३६२॥

अडविइ पत्नी नइहिं जलतोवि न वूहा हत्थ। अव्वोतीह कवाडियह अज्जवि सज्जि अवत्थ॥

अर्थ—आज इस कुरुपी कवाडिक को देखकर मुझे जाति स्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया, फिर मैंने यह अडविइं, आदि श्लोक पढा ॥ ३६२ ॥

कोहलेन ततस्तेन प्रोचे देव! नरेश्वर!। प्रोक्तं देव्या तवाग्रे यत्तत्तथैव हि नान्यथा ॥३६३॥

अर्थ—उसके बाद कोहलने कहाकि हे देव! हे नरेंद्र! आपके पास देवीने जो कुछ कहा है वह सब ठीक ही है। अन्यथा नहीं है

तन्निशम्यावनीकान्तः प्रोवाच हे सभासदः। महात्म्यं देवपूजायाः पश्यताश्चर्यकारकम् ॥३६४॥

अस्मिन्नेव भवे गोपोऽप्यहमीशोऽजनि क्षितेः। देवीयं तु पुनः प्राप सुखमीदृग् भवान्तरे। ३६५॥

अर्थ—उक्त प्रकारसे कथा को सुनकर राजाने कहा कि हे सभासदों ! देवपूजा का आश्चर्यकारक माहात्म्य सुनिये, मै गोवालिया होकर इस भवमें ही भूमिपति बना हूं, और इस देवीने दूसरे भवमें राजकन्या होकर ऐसा सुख प्राप्त किया ॥

इति धर्मकथां रम्यां विदधानेऽवनीश्वरे । आचार्य्यो मुनिचन्द्रस्तु समेतो जिनमन्दिरम् ॥३६६॥
श्रुत्युक्त विधिना तेन जिनं नत्वा नृपाग्रहात् । देशनाऽदायि निःशेषसारगर्भा सुधानिभा ॥३६७॥

अर्थ—इस प्रकार सुन्दर धर्मकथा का आख्यान राजा कर रहा था कि आचार्य मुनिचन्द्रसूरि नामक साधु महाराज जिन मन्दिरमें आपहुंचे। उन्होने आगमोक्त विधिके अनुसार जिनदेवको नमस्कार करके राजाके आग्रहसे सम्पूर्ण सारवाली शेप काथा का अमृत के समान वाणी में प्रवचन दिया ॥ ३६६ ॥ ३६७ ॥

सपत्नीकेन भूपेन समवाप्य गुरोस्तदा । सम्यक्त्वं तु मनःशुद्धया पालितं शिवसौख्यदम् ॥३६८॥
इत्थं धर्मरतो देवपालः पत्नीयुतो नृपः । अवापान्ते शुभध्यानात्कल्पे देवत्वमन्तिमे ॥ ३६९ ॥
कियद्‌भवान्तरे सोऽपि सिद्धिसौख्यमवाप्स्यति । श्रुत्वेति भाविकाः सन्तु जिनपूजारताः सदा ॥३७०॥

अर्थ—प्रवचनके वाद रानीके साथ राजाने शिव सुखको देने वाला समकितको गुरुके पास धारणकर मनःशुद्धि पूर्वक उसे पालन करने लगा। आयुष्य के पूर्ण होनेपर मरकरके वारहवें देवलोक में देवपणे में उत्पन्न हुए ॥ दूसरे कितने ही भव के वाद वह सिद्ध के सुखो को प्राप्त करेगा। ऐसा-सुनकरके भविक जनो ! सदैव जिनपूजा करने में अनुरक्त हो जाओ ॥

ज्ञानान्वितगुरोःपार्श्वे निशम्यैतत्कथानकम् । मनस्तयोर्जिनार्चासु निश्चलं समजायत ॥३७१॥

अर्थ—ज्ञानी गुरुके पास इस कथा को सुनकर दोनो के मन जिन पूजा करने में निश्चल हो गये ॥ ३७१ ॥

अथ ताभ्यामिति प्रोचे प्राग्भवं नौ निवेदय। भगवन्! कर्मणा केन जातावावां तु दुःखिनौ ॥३७२॥
गुरुराहाखिलो जन्तुगणः स्वसमुपार्जितम्। भुक्तं पुरातनं कर्म युवामत्र निदर्शनम् ॥ ३७३ ॥

अर्थ—बादमें राजा रानीने पूछाकि हे भगवन्! आप हमलोगों के पूर्व भवका वर्णन करिये। किस कर्मसे हमदोनों दुःखी बनें। गुरुने कहा प्रत्येक पहले भवमें उपार्जित कर्मोको भोगता है इस में उदाहरणभूत तुम दोनों ही हो ॥ ३७३ ॥

मलयाद्रिवने सोमपल्लीपतिसुतावुभौ। भीमार्जुनाभिधौ जातौ प्रकृत्या सरलाशयौ ॥३७४॥
न चौर्यं कुरुतस्तौ तु स्वामिद्रोहं कदाचन। विश्वसितजनाघातं निन्दां कदापि कस्यचिद् ॥३७५॥
कूपारामपुरग्रामसौधप्रज्वालनं क्रुध। अन्यद् यद्गर्हितं कर्म भिल्लवंश भवावपि ॥३७६॥
कस्यापि सेवया मार्गरक्षणेन कृषेस्तथा। करणेन कुटुम्बस्य चिन्तां वितनुतः सुखम् ॥३७७॥

अर्थ—मलयाचल पर्वत के वन में रहा हुआ सोमपल्ली पति के भीम अर्जुन नाम के दो लडके हुए थे, वे स्वाभाव से सरल हृदयवाले थे. दोनों कभी चोरी नहीं करते, विश्वासघात नहीं करते एवं किसी की निन्दा नहीं करते. भील वंश के होते हुए भी क्रोध से कूआं, बगीचा, नगर, गांव आदि को नहीं बिगाडते व नहीं जलाते थे। हर किसी की सेवा रक्षा तथा खेती और परिवार की चिन्तापूर्वक सुखों का अनुभव करते थे ॥३७४॥३७५॥३७६॥३७७॥

न तिष्ठतः परं तौ तु मृगया व्यसनं विना। अन्यदा तु वने कश्चिदाययौ ऋषिपुङ्गवः ॥३७८॥
तेन भद्रकभावौ तौ चौर्य्यादिव्यसनोज्झितौ। निरीक्ष्याखेटक क्रीडां विदधानौ निवारितौ ॥३७९॥

अर्थ—लेकिन शिकार खेलने के विना नहीं रहते थे. एक दिन वन में कोई महात्मा आ पहुंचा. उसने चोरी आदि

व्यसनों से रहित सरल परिणामवाले दोनों को शिकार खेलते हुए देखकर निवारण किया ॥३७८॥३७९॥

वत्सौ ! भिल्लकुलोत्पन्नावपि स्थः सुकृते रतौ। चौर्यादेर्विरतौ नूनं यथात्तव्रततत्परौ ॥३८०॥
तथैव मृगया दोषरहितौ भवतं युवाम्। दोषोऽयं सकलानर्थमूल जीवितनाशकृत् ॥३८१॥
जीवाभयप्रदानेन जन्तुर्भवति निर्भयः। जीवहिंसाकरः प्राणी जायते दुःखभाजनम् ॥३८२॥
इतिश्रीमद्गुरोर्बोध मवाप्य भव्य दुर्लभम्। मृगया व्यसनं पापमूलं ताभ्यां च तत्यजे ॥३८३॥

अर्थ—हे पुत्रो ! तुम दोनों भिल्लकुल में जन्म लिये हो, फिर भी पुण्यकार्य में अनुरक्त हो और चोरी आदि पापों से रहित हो और लिये हुए व्रतों के पालन में तत्पर हो. उसी तरह तुम दोनो शिकार से रहित हो जाओ, शिकार करना महादोष है, सब अनर्थों का मूल है, जीवन का नाश करनेवाला है। और जीवों को अभयदान देने से स्वयं निर्भीक बनता है. जीवों की हिंसा करने से मनुष्य दुःखों का पात्र बन जाता है। इस तरह श्रीमान् गुरुदेव के उपदेश द्वारा दुर्लभ बोध को शीघ्र पाकर के पापों का मूलभूत शिकार खेलना उन दोनों भाईयोंने बन्द कर दिया ॥३८०॥८१॥८२॥३८३॥

अन्यदा तु वने ताभ्यां गताभ्यां सहसा धनुः। सज्जीकृत्य शरोऽक्षेपि लक्ष्यमुद्दिश्य किञ्चनः ॥३८४॥
तद्बाणेन च तल्लक्ष्यं भित्वा व्यापादिता मृगी। वीक्ष्य नवप्रसूतां तां मृतां भीमोर्दितोऽवदत् ॥
आवाभ्यां वत्स ! पापिभ्यां विदधे कर्म गर्हितम्। न दोषोऽत्राल्पमात्रस्ते दोषो मे केवलं महान् ॥३८६
मयाग्रीभूय यद्भूयः पापिना प्रेरितो भवान्। कार्ये जुगुप्सितेऽतोयानर्थहेतुरतस्त्वहम् ॥३८७॥

अर्थ—एक दिन भीम अर्जुन दोनों भाई वन में जाने पर एक धनुष को तैयार कर के एक निशाना करके बाण

को फेंक दिया । उस निशाना को भेद न करते हुए उस बाण से एक मृगी मर गई. वह नवी व्याही हुई थी. मरी हुई उसे देखकर दुःखी भीमने कहा ॥३८४॥३८५॥ हे वत्स ! अपने दोनों से निन्दित कार्य हो गया. इस में थोडा भी दोष तेरा नहीं है. केवल मेरा ही महान् दोष है. क्यों कि आगे हो कर पापी मैंने ही आप को उत्तेजना दी. इसलिये महा निन्दनीय इस कार्य में अनर्थों का मूल कारण मैं ही हूं ॥३८६॥३८७॥

हरिणीं निघ्नता चैतां हरता तच्छिशोर्धृतिम् । खण्डयता गुरोराज्ञा मुज्झता स्वीकृतं व्रतम् ॥३८८॥
मया न विदधे भ्रातः ! किं चण्डालजनोचितम् । अतो यामि नगे झम्पा-मासन्ने दातुमादरात् ॥३८९
उक्त्वेति संश्रिते मौनं तस्मिन्नथार्जुनोऽवदत् । किं दुनोसि मुधात्मानं बन्धो ! कल्पनयाऽनया ॥३९०॥
भिल्लान्वये कुलाचारो मृगयेयं कुलाध्वनि । संचरता त्वया पापमित्येतत्किमुदीर्यते ॥३९१॥

अर्थ—भाई ! इस मृगी को मारनेवाला, इस के बच्चे के आश्रय को हरण करनेवाला, गुरु की आज्ञा का भंग करनेवाला, लिये हुए व्रत को तोडनेवाला, मैंने क्या चण्डाल मनुष्य के उचित कर्म नहीं किया ? जरुर किया । इसलिये समीप में रहे हुए पहाड पर झम्पापात करने के लिये जाऊं ! ऐसा कहकर जब मौन हो गया तब अर्जुनने कहा कि बन्धो ! ऐसी कल्पना कर बेकार आत्मा को क्यों दुःखाते हो ? भील्ल के वंश में यह शिकार कौलिक आचार है । कुल के मार्ग में चलते हुए तुम पाप का नाम क्यों ले रहे हो ? ॥३८८॥८९॥९०॥३९१॥

मा वादी र्वाक्यमेतत्तु पश्चात्तापं हृदस्त्यज । जीवमानौ करिष्यावः पुण्यमावामनेकधा ॥३९२॥
उदित्वेति गृहं नीतोऽर्जुनेन निजबान्धवः । परं भीमो विसस्मार न तद्दुश्चरितं हृदः ॥३९३॥

कनीयसा च तदानीं तदभूयः करणेन च। विस्मारितं तदा तस्य नायाति स्म यथा स्मृतिम् ॥३९४॥
आयुः क्षयादुभौ मृत्वा युवां जातौ नृपाङ्गजौ। हंसराजस्तथा वत्सराजश्च गुणिनौ शुचौ ॥३९५॥

अर्थ—ऐसा वाक्य मत बोलो. हृदय से पश्चाताप को छोड दो. जीवते हुए दोनों भाई अनेक पुण्य कर लेंगे। ऐसा कहकर अर्जुन भाई को घर ले गया. लेकिन उस दुष्कर्म को भीम हृदय से नही भूला। छोटा भाई अर्जुनने उस समय "वापिस नही करना. ऐसा कहकर उसे ऐसा भूला दिया कि फिर कभी भी याद नही आवे। कुछ दिन के बाद आयुष्य का क्षय होनेपर तुम दोनो मर गये। और राजकुल मे तुम दोनो ने जन्म लिया. एक का हंसराज और दूसरे का वत्सराज नाम पडा। तुम दोनो पहलेसे ही पवित्र और गुणवान हो ॥३९२॥९३॥९४॥३९५॥

अजानता त्वया प्राच्यभवे हत्वा मृगीं नृप! पश्चात्तापस्तथा चक्रे यथा जातोऽत्रसौख्यभाक् ॥३९६॥
अनायासेन यत्प्राप्तं त्वया राज्यद्वयं वरम्। तत्पुण्यस्य फलं विद्धि नाप्यते तद्दिनेप्सितम् ॥३९७॥
पापं यद्भवता भिल्लभवोचितमुपार्जितम्। तस्मादभूद् भवान् दुःखभाजन त्वन्तरान्तरा ॥३९८॥

अर्थ—हे राजन्! पूर्वभव मे अज्ञानवश तूमने मृगी को मारकर पश्चात्ताप इतना किया कि इस भव में सुखी बन गया। बिना आयास ही तुमने उत्तम दो राज्य जो पाया है वह उस पुण्य का फल है। उस दिन अभिलषित को नहीं पाया था. वह यहां दोनें राज्य पा लिया। भील वंशमें पापका उपार्जन किया था उसी से बीच में दुःखोंका पात्र बनें॥

वत्सराज! मृगीं हत्वा त्वया नानुशयः कृतः। उपर्युपरि तेनात्र तव दुःखमजायत ॥३९९॥

तातावज्ञाग्रजत्याग निजजाया वियोगजम् । अन्यच्चाब्धिनिपातादिदुःखं सेहेऽतिदुसहम् ॥४००॥
अनुभूतं सुखं यच्चान्तरा तत्पुण्यलेशजम् । फलं ज्ञात्वाशये वत्सानिशं कुरु तदुद्यमम् ॥४०१॥

अर्थ—हे वत्सराज ! तूंने मृगी को मारकर पश्चात्ताप नहीं किया इसलिये तुम को ऊपरा ऊपरी दुःख हुआ। पिता से अपमान, भाई का त्याग, अपनी पत्नी का वियोग और समुद्र में पडना आदि दुःखों को सहन करना पडा। बीच में जो सुख मिला वह मामुली पुण्य के फल से हुआ, ऐसा हृदय में समझ कर हे वत्स ! सतत पुण्य के लिये उद्यम करो ॥

सत्यमेतद् वचो ज्ञानिभाषितं नान्यथा भवेत्। इत्युक्त्वेति हृदि ज्ञात्वा हा भवोऽहारि मानवः॥४०२
ताभ्यां गुर्वन्तिके जातसंवेगाभ्यां भवश्रुतेः। अग्राहि शुद्ध सम्यक्त्वं द्वादशव्रतभूषितम् ॥४०३॥

अर्थ—ज्ञानियों द्वारा कहे हुए वचन सत्य ही होते है ऐसा मन में समझ कर बोले अपने व्यर्थ ही मानव भवको हार गये। फिर देशना के श्रवणसे वैराग्य पैदा होने पर गुरुके पास बारह व्रतसे विभूषित समकीत को ग्रहण कर लिया ॥४०२

ज्ञानि प्रदत्तसद्धर्मोपदेशप्रीणिताशयौ। ध्वस्त निःशेष संदेहौ जग्मतुस्तौ स्वमन्दिरम् ॥४०४॥
आजन्मापि तयोश्चित्ते मिथ्यात्वं वसति स्म न। ताभ्यां गुरुपदेशेनाशयाद्विस्मारितो मनाक् ॥४०५॥

अर्थ—ज्ञानी से दिये हुए उपदेश से प्रसन्न चित्तवाले, और सब संदेह को नाश करनेवाले दोनों भाई अपने घर को चले गये। फिर दोनों भाईके हृदयमें जन्मपर्यंन्त मिथ्यात्व नहीं आया और हृदयसे गुरुके उपदेश को थोडाभी नहीं भूले॥

पूर्णचन्द्रोज्वलं धर्मं समाराध्य जिनोदितम्। विधाय कर्मविध्वंसं विजित्येन्द्रियपञ्चकम् ॥४०६॥

क्रमेण केवलज्ञानमधिगम्यातिनिर्मलम् । कियद् भवान्तरे तौ तु सिद्धिसौख्यमवाप्स्यतः ॥४०७॥

अर्थ—जिनप्रतिपादित पूर्णचन्द्र के समान उज्जवल धर्म की आराधना कर कर्मों का नाश कर के, पांचों इन्द्रियों को जीतकर क्रम से निर्मल केवलज्ञान पाकर कुछ भवो के बाद दोनों सिद्ध सौख्य को प्राप्त करेंगे । अर्थात् मोक्ष सुख पावेंगे ॥

शृण्वति ये कथामेनां विचक्षणजनप्रियाम् । भवन्ति सुखिनो नित्यमत्यन्तानन्दपूरिताः ॥४०८॥

अर्थ—ज्ञानिजनों की प्रिय इस कथा को जो सुनते हैं वे हमेश अत्यन्त आनन्द से पूर्ण सुखी होते है ॥४०८॥

—: ग्रन्थ प्रशस्ति :—

पुराऽभवच्छ्रीमलधारगच्छे विद्याब्धिसूरिर्विदितः पृथिव्याम् ।
कीर्तिर्यदीया धवलीकरोति भूमण्डलं सम्प्रति चित्रमेतत् ॥ १ ॥
पट्टे तदीये गुणसुन्दराख्य, सूरीश्वरो मन्मथ मानहर्ता ।
दुर्वादिवृन्दप्रबलान्धकारो-ष्णांशुर्विभातीन्दुवदच्छचेत्ताः ॥ २ ॥
तत्पट्टभूषणमनङ्गजयप्रवीणः श्रीसर्वसुन्दरगुरुर्विदितो विभाति ।
सच्छास्त्रविन्निखिलभव्यजनाब्जराजीसञ्जीवनौषधमशेषगुणैकगेहम् ॥३॥
तेनेयं रचिता कथा गगनभूबाणेन्दु सम्वत्सरे । माघे मासि नवेन्दुगोशुचितरेऽभीष्टे जनानां भृशम् ॥

पञ्चम्या भृगुवासरे बहुविधादुधृत्यशास्त्रान्तराद्। दुर्गे मण्डपनाम्नि पण्डितमुखे भूयात् सदा शाश्वती ॥४॥

इति श्री हंसराज वत्सराज कथायां राज्यादिवर्णनो नाम पञ्चमः सर्गः ॥

अर्थ—पहले मलधार गच्छ के विद्यासागरसूरिजी विख्यात हो गये हैं जिन्हों की कीर्ति भूमण्डल को आज भी उज्वल करती है यही तो आश्चर्य है। उनके पटपर कामदेव के मानको हरण करनेवाले, वादि समूहरूप प्रबल अन्धकारको हटाने में सूर्य समान और चन्द्रमा के समान स्वच्छ हृदयवाले गुणसुन्दरसूरि महाराज हुए। उनके पट पर सद् शास्त्र को जानकार, समस्त भव्यजन रूप कमल समूह को जीवाने में संजीवनी औषध के समान, और सकल गुणों के भंडार सर्वसुन्दरसूरि नामक गुरुदेव हुए। १५१० वर्ष में सर्व जनों के प्रिय माघ मास के शुक्ल पक्ष की पञ्चमी शुक्रवार के दिन अनेक शास्त्रोंसे उद्धरण कर सर्व सुन्दर गुरुसे दुर्गम मण्डप नामक नगर में बनाई गई। यह कथा-पण्डित मुखमें शाश्वत रहनेवाली हो॥

श्रीमलधारगच्छीय आचार्यदेव श्रीसर्वसुन्दरसूरिविरचित, तथा तपागच्छीय जगद्गुरु श्रीमद्विजय हीरसूरीश्वरपाटपरम्परागतआचार्यदेव श्रीमद्विजय हिमाचलसूरीश्वरजी के शिष्य-मुमुक्षु भव्यानंदविजय द्वारा हिन्दी भाषा में अनुवादित श्री हंसराज वत्सराज कथान्तर्गत राज्यादि वर्णन नामक पांचवां सर्ग समाप्त हुआ।

समाप्त